नई दिल्ली
रविवार, 15 मार्च, 2026, मूल्य-15.00
राष्ट्रीय
वर्ष-8 अंक-21 पृष्ठ- 8
RNI: DELHIN / 2018 / 76679
Postal Reg. No. DL(C)-05/1425/2025-27
License To Post Without Pre Payment No. U(C)-164/2025-27
Magazine Post Reg. No. DL(DS)-31/MP/25-26-27

संडे नवजीवन

Freedom is in Peril, Defend it with all your might Jawaharlal Nehru

जंगली जानवरों को जगलों से इस तरह वनतारा शिफ्ट करने का असली मकसद क्या है? 4
बंगाल में 'विचाराधीन' 60 लाख वोटरों का भविष्य अनिश्चित 2

दीमक हैं, तो मिट्टी है 8

www.navjivanindia.com | @navjivanindia | www.nationalheraldindia.com | www.qaumiawaz.com

अमेरिका यह युद्ध क्यों नहीं जीत पाएगा

अशोक स्वैन

अमेरिका, इसराइल के साथ मिलकर, एक बार फिर मध्य पूर्व में एक ऐसे युद्ध में उतर गया है जिसका कोई स्पष्ट उद्देश्य नहीं है, कोई सुसंगत रणनीति नहीं है और न ही इस बात की कोई व्यावहारिक समझ है कि इसका अंत कैसे होगा। ईरान पर हमला करने का निर्णय सुरक्षा की जरूरत से अधिक घरेलू राजनीतिक गणनाओं और क्षेत्रीय शक्ति संतुलन को बदलने की इच्छा से प्रेरित प्रतीत होता है। नाटकीय हवाई हमलों और विजयोन्माद से शुरू हुआ यह संघर्ष तेजी से एक लंबे टकराव में तब्दील हो रहा है, जिसमें जीत की कोई उम्मीद नहीं है। इसके परिणाम मध्य पूर्व से कहीं आगे तक फैल रहे हैं और अंतरराष्ट्रीय कानून-व्यवस्था के क्षरण को और भी तीव्र कर रहे हैं।

इस संघर्ष को आकार देने में इसराइल की भूमिका पर भी गहन तरीके से विचार करना जरूरी है। दशकों से इसराइली प्रधानमंत्री नेतन्याहू का तर्क रहा है कि ईरान एक अस्तित्वगत खतरा है जिसे बेअसर करना जरूरी है। इसलिए, नेतन्याहू के पास तेहरान पर निरंतर सैन्य दबाव बनाए रखने के लिए मजबूत प्रेरणाएं हैं। फिर भी, लंबे समय तक चलने वाले युद्ध का रणनीतिक बोझ मुख्य रूप से अमेरिका पर पड़ेगा। जैसे-जैसे वाशिंगटन इस युद्ध में और अधिक उलझता जाएगा, इसराइल धीरे-धीरे अपनी भूमिका कम कर सकता है, जबकि अमेरिकी सेनाएं कूटनीतिक, सैन्य और आर्थिक लागतों के अधिकांश हिस्से का भार उठाएंगी।

इस संघर्ष की सबसे उल्लेखनीय खासियत या विडंबना एक सुसंगत तर्क का अभाव है। वाशिंगटन के घोषित उद्देश्य बार-बार बदलते रहे हैं। पहले लक्ष्य ईरान की परमाणु क्षमताओं को नष्ट करना था। कुछ समय बाद इसे बैलिस्टिक मिसाइल कार्यक्रमों को समाप्त करने तक विस्तारित किया गया। फिर इस मिशन को ईरान के क्षेत्रीय परोक्ष नेटवर्क को नष्ट करने के रूप में बताया गया। अन्य मौकों पर, भाषा से तेहरान में सत्ता परिवर्तन का संकेत मिला। ईरान पर युद्ध छेड़ने के घोषित उद्देश्य में आए बदलाव इस वास्तविकता को दर्शाते हैं कि युद्ध बिना किसी स्पष्ट राजनीतिक उद्देश्य के शुरू किया गया था।

यहां तक कि वरिष्ठ अमेरिकी अधिकारियों द्वारा दिए गए स्पष्टीकरणों ने भी इस भ्रम को उजागर किया है। एक समय अमेरिकी विदेश मंत्री मार्को रुबियो ने सुझाव दिया कि वाशिंगटन ने इसलिए कार्रवाई की क्योंकि इसराइल अपना हमला शुरू करने की तैयारी कर रहा था और अमेरिका अमेरिकी बलों पर ईरानी जवाबी कार्रवाई को रोकने के लिए पहले हमला करना चाहता था। इसका मतलब यह था कि वाशिंगटन युद्ध में इसलिए शामिल हुआ क्योंकि इसराइल पहले ही ऐसा करने का फैसला ले चुका था। बाद में इस टिप्पणी को नरम कर दिया गया, लेकिन इस घटना ने यह उजागर किया कि युद्ध के औचित्य कितने तात्कालिक रहे हैं।

युद्ध केवल लक्ष्यों को नष्ट करने से नहीं जीते जाते। युद्ध तब जीते जाते हैं जब सैन्य कार्रवाई से ऐसा राजनीतिक परिणाम निकलता है जो राष्ट्रीय हितों को आगे बढ़ाता है। ईरान के मामले में, अमेरिका ने यह स्पष्ट नहीं किया है कि ऐसा परिणाम कैसा होगा। क्या लक्ष्य ईरान को इतना कमजोर करना है कि बातचीत के लिए मजबूर किया जा सके? क्या इसका उद्देश्य उसकी सैन्य क्षमताओं को नष्ट करना है? या फिर, क्या इसका उद्देश्य शासन का पूर्ण पतन करना है?

अमेरिकी हमले के पीछे मूल धारणा यह लगती है कि ईरान के नेतृत्व को शीघ्रता से समाप्त करने से शासन अस्थिर हो जाएगा और उसे अमेरिकी मांगों को स्वीकार करने के लिए मजबूर होना पड़ेगा। देश के सर्वोच्च नेता सहित वरिष्ठ हस्तियों की हत्या से आंतरिक पतन और/या शीघ्र आत्मसमर्पण की आशंका थी। यह आशंका रणनीतिक त्रुटि के एक परिचित पैटर्न को दर्शाती है।

विरोध "ईरान के साथ युद्ध नहीं" वाले बोर्ड के पास से गुजरता नेशनल गार्ड्स का एक समूह और तेहरान में अमेरिका और इसराइल के हमले में मारे गए लोगों के अंतिम संस्कार में शामिल लोग

ईरान कोई कमजोर देश नहीं है जिसे कुछ नाटकीय हमलों से गिराया जा सके। यह एक गहरी संस्थागत राजनीतिक व्यवस्था है जिसमें सत्ता के कई केन्द्र और एक शक्तिशाली सुरक्षा तंत्र मौजूद है। प्रमुख नेताओं को खोने के बाद भी, शासन ने एक नया सर्वोच्च नेता स्थापित किया है और सैन्य, खुफिया और वैचारिक संस्थानों के व्यापक नेटवर्क के जरिये अपना कामकाज जारी रखा है। इस्लामिक रिवोल्यूशनरी गार्ड कोर के पास अकेले ही अपार संसाधन, प्रभाव और जनशक्ति है। चार दशकों से अधिक समय तक आंतरिक और बाहरी दबावों का सामना करने के बाद भी कायम रहने वाली राजनीतिक व्यवस्था का रातोंरात विघटन होना असंभव है। यह मानना कि ईरान शीघ्र ही आत्मसमर्पण कर देगा, इस देश के इतिहास को भी नजरअंदाज करता है। 1980 के दशक में, ईरान ने इराक के साथ एक विनाशकारी युद्ध लड़ा जो आठ वर्षों तक चला और जिसमें लाखों लोगों की जान गई। भारी जानमाल के नुकसान, आर्थिक कठिनाइयों और अंतरराष्ट्रीय अलगाव के बावजूद - क्योंकि इराक को पहले अमेरिका और फिर सोवियत संघ-दोनों का समर्थन प्राप्त था - तेहरान ने आत्मसमर्पण करने से इनकार कर दिया। उस युद्ध ने ईरान की राजनीतिक संस्कृति को गहराई से प्रभावित किया। इसने विदेशी आक्रमण के विरुद्ध सहनशीलता और प्रतिरोध की एक सशक्त भावना को बल दिया। यह उम्मीद करना कि वही समाज अब कुछ हफ्तों की बमबारी के बाद आत्मसमर्पण कर देगा, रणनीतिक विश्लेषण नहीं, बल्कि कोरी कल्पना है।

अमेरिका को अपने दृष्टिकोण में एक मूलभूत विरोधाभास का भी सामना करना पड़ रहा है। नब्बे मिलियन से अधिक आबादी वाले देश में राजनीतिक परिवर्तन मिसाइल हमलों के माध्यम से थोपा नहीं जा सकता। फिर भी, अमेरिकी जमीनी सेना को ईरान भेजना एक विशाल पैमाने और अनिश्चितता के युद्ध में प्रवेश करने के समान होगा। ईरान के सशस्त्र बलों और संबद्ध रक्षक योद्धाओं को मिलाकर लगभग दस लाख लड़ाके हैं। इतने विशाल और दुर्गम भूभाग वाले देश पर कब्जा करने के लिए इराक या अफगानिस्तान में हुए युद्धों के दौरान अमेरिका द्वारा किए गए प्रयासों से कहीं अधिक प्रतिबद्धता की जरूरत होगी।

तेहरान में अधिक अनुकूल नेतृत्व स्थापित करने का विचार भी अब तेजी से अवास्तविक लग रहा है। राष्ट्रपति डॉनल्ड ट्रंप ने खुद कबूल किया है कि कई ऐसे व्यक्ति जिन्हें कभी संभावित उत्तराधिकारी माना जाता था, अमेरिकी और इसराइली हवाई हमलों में मारे जा चुके हैं। वाशिंगटन जानी-पहचानी दुविधा में फंसा हुआ है। वह बुनियादी ढांचे को नष्ट कर सकता है और नेताओं को हटा सकता है। लेकिन उसके बाद क्या होगा, इस पर उसका कोई नियंत्रण नहीं है। उदारवादी नए नेतृत्व को जन्म देने के बजाय, इस निरंकुश रणनीति ने शासन को और भी कठोर बना दिया है। अयातुल्ला अली खामेनेई की हत्या के बाद मोजतबा खामेनेई के उत्तराधिकार ने राजनीतिक व्यवस्था के सबसे कट्टरपंथी तत्वों के बीच सत्ता को मजबूत कर दिया है।

> युद्ध केवल लक्ष्यों को नष्ट करने से नहीं जीते जाते। युद्ध तब जीते जाते हैं जब सैन्य कार्रवाई से ऐसा राजनीतिक परिणाम निकलता है जो राष्ट्रीय हितों को आगे बढ़ाता हो

अमेरिका की घरेलू राजनीति स्थिति को और भी जटिल बना देती है। बढ़ती मौतें, तेल की बढ़ती कीमतें और बढ़ती आर्थिक अनिश्चितता पहले से ही देश में दबाव पैदा कर रही हैं। मध्य पूर्व में एक और लंबे युद्ध के लिए जनता का समर्थन बहुत सीमित है। जैसे-जैसे लागत बढ़ती जाएगी, व्हाइट हाउस के लिए समय से पहले ही जीत की घोषणा करके बाहर निकलने का रास्ता तलाशने का प्रलोभन होगा। लेकिन आंशिक विनाश के बाद जल्दबाजी में वापसी करने से ईरान की क्षमताएं या महत्वाकांक्षाएं खत्म नहीं होंगी; इससे क्षेत्र और भी अधिक अस्थिर हो जाएगा।

ईरान इस स्थिति को भली-भांति समझता है। तेहरान को लंबे समय से यह पता है कि अमेरिकी सैन्य शक्ति अपार है, लेकिन वह राजनीतिक रूप से सीमित है। संघर्ष को लंबा खींचकर और क्षेत्रीय जवाबी कार्रवाई, ऊर्जा बाजारों पर दबाव और असममित हमलों के जरिये लागत बढ़ाकर, ईरान इन्हीं सीमाओं का लाभ उठाता है। युद्ध जितना लंबा चलेगा, वाशिंगटन को उतना ही अधिक संघर्ष करना पड़ेगा और पीछे हटना पड़ेगा। दोनों में से कोई भी विकल्प सफलता की गारंटी नहीं है।

इसके व्यापक भूराजनीतिक परिणाम गंभीर हो सकते हैं। अमेरिका ने बार-बार यह घोषणा की है कि उसका प्राथमिक रणनीतिक ध्यान हिन्द-प्रशांत क्षेत्र और चीन द्वारा उत्पन्न चुनौती पर केन्द्रित है। फिर भी, ईरान के साथ लंबा युद्ध अमेरिकी ध्यान, संसाधनों और सैन्य संपत्तियों को एक बार फिर मध्य पूर्व की ओर मोड़ देगा। हथियारों का भंडार समाप्त हो जाएगा, नौसेना की तैनाती पर दबाव बढ़ेगा और राजनयिक ऊर्जा उस क्षेत्र में संकट प्रबंधन में खर्च हो जाएगी जिसे वाशिंगटन लंबे समय से कम प्राथमिकता देना चाहता रहा है। चीन के लिए, यह ध्यान भटकाने वाली घटना एक रणनीतिक अवसर है। बीजिंग को इससे लाभ उठाने के लिए संघर्ष में सीधे हस्तक्षेप करने की जरूरत नहीं है। जैसे ही अमेरिका मध्य पूर्व में एक और अनिश्चितकालीन टकराव के लिए प्रतिबद्ध होता है, चीन अपने आर्थिक प्रभाव का विस्तार जारी रख सकता है, सैन्य क्षमताओं को मजबूत कर सकता है और विश्व भर में साझेदारी को गहरा कर सकता है। महाशक्तियों के बीच रणनीतिक प्रतिस्पर्धा अंततः धीरज की लड़ाई है।

मौजूदा संघर्ष की यही गहरी विडंबना है। अमेरिकी शक्ति का प्रदर्शन करने और वैश्विक नेतृत्व की स्थिति को मजबूत करने के उद्देश्य से शुरू किया गया युद्ध, इसके विपरीत, अमेरिकी प्रभाव और रणनीतिक निर्णय की सीमाओं को सामने ला सकता है। ■

अशोक स्वैन स्वीडन के उप्सला विश्वविद्यालय में शांति और संघर्ष अनुसंधान के प्रोफेसर हैं

आपकी डिजिटल पहचान का स्वामित्व/नियंत्रण किसके पास?

सिम बाइंडिंग साइबर सुरक्षा का वह रामबाण इलाज नहीं है जैसा कि सरकार इसे बताती है

हरजिंदर

भारत में मैसेजिंग प्लेटफॉर्मों के लिए सिम से संबंधित नया नियम, जो 1 मार्च 2026 से लागू हुआ है, लाखों नागरिकों के डिजिटल पहचान तक पहुंचने और उसे नियंत्रित करने के तरीके में मौलिक बदलाव ला सकता है। दूरसंचार साइबर सुरक्षा नियमों के तहत पेश किए गए इस निर्देश के अनुसार, मैसेजिंग एप्लिकेशनों को उपयोगकर्ता खातों को पंजीकरण के दौरान उपयोग किए गए भौतिक सिम कार्ड से लगातार लिंक रखना अनिवार्य है। यदि सिम कार्ड निकाल दिया जाता है, निष्क्रिय कर दिया जाता है, बदल दिया जाता है या निष्क्रिय हो जाता है, तो मूल सिम कार्ड को दोबारा डालने और सत्यापित होने तक खाते तक पहुंच अवरुद्ध हो सकती है।

यह नियम वाट्सएप, टेलीग्राम, सिग्नल और अन्य प्रमुख मैसेजिंग प्लेटफॉर्म पर लागू होता है जो प्रमाणीकरण के लिए मोबाइल नंबरों पर निर्भर करते हैं। सरकार का कहना है कि इसका उद्देश्य साइबर धोखाधड़ी और नंबरों के दुरुपयोग को रोकना है, लेकिन गोपनीयता, डिजिटल स्वामित्व और उपयोगकर्ता स्वायत्तता पर इसके दूरगामी प्रभाव होंगे।

वाट्सएप का उदाहरण लें। नई व्यवस्था के तहत, उपयोगकर्ता तब तक अपने एकाउंट तक नहीं पहुंच सकता जब तक कि पंजीकरण के दौरान इस्तेमाल किया गया सिम कार्ड मुख्य डिवाइस में मौजूद न हो। व्यावहारिक रूप से, इसका मतलब यह है कि व्यक्तिगत बातचीत, संपर्क और डिजिटल इतिहास तक पहुंच एक विशेष सिम कार्ड के होने पर निर्भर करती है।

इससे विचित्र विरोधाभास पैदा होता है: जिसने एकाउंट बनाया, संपर्क नेटवर्क बनाया और डेटा निर्माण किया, उसका अब उस पर पूर्ण नियंत्रण नहीं रह जाता है। इसके बजाय, पहुंच प्रभावी रूप से सिम कार्ड द्वारा निर्धारित होती है।

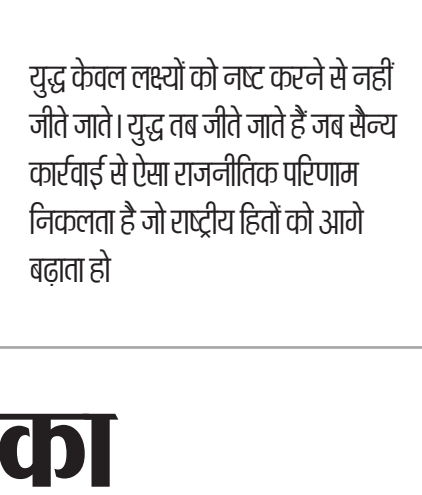

> सिम से संबंधित नए नियम का लाखों लोगों पर असर होगा क्योंकि वे रोजमर्रा के कामों के लिए मैसेजिंग ऐप्स पर निर्भर हैं। असली बहस सिर्फ सिम कार्डों के बारे में नहीं, बल्कि इस बारे में है कि डिजिटल पहचानों पर आखिरकर किसका नियंत्रण है

लेकिन सिम कार्ड पर भी कानूनी स्वामित्व उपयोग करने वाले का नहीं होता। दूरसंचार ग्राहक तकनीकी रूप से सिम धारक होते हैं, सिम मालिक नहीं। सिम कार्ड जारी करने वाली दूरसंचार कंपनी की संपत्ति बना रहता है। परिणामस्वरूप, मैसेजिंग खातों पर नियंत्रण परोक्ष तौर पर एकाउंट बनाने वाले व्यक्ति के बजाय दूरसंचार कंपनियों के स्वामित्व वाले बुनियादी ढांचे से जुड़ा होता है। यह बदलाव प्लेटफॉर्म-आधारित संचार के युग में डिजिटल स्वामित्व और उपयोग करने वाले व्यक्ति के अधिकारों के बारे में मूलभूत प्रश्न खड़े करता है। साइबर कानून विशेषज्ञ पवन दुग्गल ने संडे नवजीवन को बताया कि 'सिम-बाध्यकारी आदेश की नींव कमजोर है। चूंकि संसद ने इसके लिए कोई कानून पारित नहीं किया है, इसलिए इस आदेश को अदालत में आसानी से चुनौती दी जा सकती है।'

भारत के संवैधानिक ढांचे में निजता को पहले ही मौलिक अधिकार के रूप में मान्यता दी जा चुकी है। ऐतिहासिक के.एस. पुट्टास्वामी बनाम भारत संघ मामले में, सर्वोच्च न्यायालय के नौ न्यायाधीशों की पीठ ने सर्वसम्मति से फैसला सुनाया था कि निजता का अधिकार संविधान के अनुच्छेद 21 के तहत प्रदत्त जीवन और व्यक्तिगत स्वतंत्रता के अधिकार का अभिन्न अंग है। इस फैसले में सूचनात्मक निजता को स्पष्ट रूप से मान्यता दी गई है - यानी व्यक्तियों को अपने व्यक्तिगत डेटा पर नियंत्रण रखने का अधिकार है।

सिम बाइंडिंग इस सिद्धांत को जटिल बना देती है। यदि किसी व्यक्ति के डिजिटल एकाउंट तक केवल दूरसंचार कंपनी द्वारा जारी सिम कार्ड के माध्यम से ही पहुंचा जा सकता है, तो व्यक्ति की अपनी डिजिटल जानकारी को नियंत्रित करने की क्षमता सशर्त हो जाती है। आलोचकों का तर्क है कि जब उपयोगकर्ता अपने एकाउंट तक पहुंच का अंतिम नियंत्रक भी नहीं होता है, तो सूचनात्मक गोपनीयता की रक्षा करना कठिन हो जाता है।

नए नियमों को लेकर चिंताएं सिर्फ प्राइवेसी ऐक्टिविस्टों तक ही सीमित नहीं हैं। प्रौद्योगिकी उद्योग समूहों ने भी कानूनी सवाल उठाए हैं। गूगल और मेटा जैसी वैश्विक प्रौद्योगिकी कंपनियों का प्रतिनिधित्व करने वाले ब्रॉडबैंड इंडिया फोरम ने चेतावनी दी है कि यह आदेश दूरसंचार नियामक के वैधानिक अधिकार क्षेत्र से बाहर हो सकता है। सरकार को लिखे अपने पत्र में फोरम ने तर्क दिया कि प्रत्यायोजित कानून के जरिये दूरसंचार नियमों को इंटरनेट प्लेटफॉर्म तक विस्तारित करने से नियामक अतिव्यापीकरण और क्षेत्राधिकार संबंधी संघर्ष का खतरा है। इसने समानता के संवैधानिक अधिकार के संभावित उल्लंघन पर भी चिंता व्यक्त की। उद्योग जगत के संगठन के अनुसार, डिजिटल प्लेटफॉर्मों को दूरसंचार-शैली के नियमों का पालन करने के लिए मजबूर करने से विभिन्न क्षेत्रों में असंगत अनुपालन जरूरतें पैदा हो सकती हैं और अनावश्यक ऑपरेशनल बोझ बढ़ सकता है। एक अन्य महत्वपूर्ण चिंता मोबाइल नंबरों की भूमिका से संबंधित है। फोन नंबर को व्यक्तिगत रूप से पहचान योग्य जानकारी (पीआईआई) माना जाता है। इसे कई डिजिटल प्लेटफॉर्म से मजबूती से जोड़ने से गोपनीयता संबंधी संभावित जोखिमों का दायरा बढ़ जाता है।

जब कोई संख्या कई सेवाओं में केन्द्रीय प्रमाणीकरण कुंजी बन जाती है, तो कई खतरे पैदा होते हैं:

डेटा लीकः यदि किसी एक प्लेटफॉर्म में सेंध लग जाती है, तो हमलावर कई एकाउंट से जुड़े मोबाइल नंबर तक पहुंच सकते हैं।

शेषपेज 2 पर ▸

डिजिटल पहचान का स्वामित्व किसका?

पेज एक का शेष

अवांछित संपर्क या उत्पीड़नः ऑनलाइन उजागर हुए फोन नंबर आसानी से स्पैम, दुर्व्यवहार या पीछा करने के उपकरण बन सकते हैं।

क्रॉस-प्लेटफॉर्म ट्रैकिंगः कंपनियां या दुर्भावनापूर्ण तत्व एक ही नंबर के जरिये विभिन्न प्लेटफॉर्म पर उपयोगकर्ता की गतिविधियों को ट्रैक कर सकते हैं।

नई प्रणाली लक्षित उत्पीड़न और व्यक्तिगत जानकारी लीक होने के खतरे को और बढ़ा सकती है। यदि किसी व्यक्ति का फोन नंबर उसकी ऑनलाइन उपस्थिति की सार्वभौमिक कुंजी बन जाता है, तो उस नंबर के उजागर होने से एक साथ कई डिजिटल पहचानों का खुलासा हो सकता है। - यह स्थिति विशेष रूप से गंभीर हो सकती है। एक लीक या समझौता किया गया फोन नंबर एक साथ कई मैसेजिंग प्लेटफॉर्म पर उत्पीड़न अभियान का दरवाजा खोल दे सकता है।

नागरिक स्वतंत्रता के पैरोकार निगरानी के विस्तार की संभावना को लेकर भी चिंतित हैं। चूंकि सिम कार्ड केवल ग्राहक को जानें (केवाईसी) सत्यापन के बाद ही जारी किए जाते हैं, इसलिए प्रत्येक सिम पहले से ही एक सत्यापित पहचान से जुड़ा होता है। जब मैसेजिंग खाते स्थायी रूप से इन सिम कार्डों से जुड़ जाते हैं, तो सैद्धांतिक रूप से अधिकारियों को डिजिटल संचार को वास्तविक दुनिया की पहचान से जोड़ने का एक आसान रास्ता मिल जाता है।

दुग्गल इस बात पर जोर देते हैं कि यह आदेश निजता के अधिकार, अभिव्यक्ति के अधिकार और, बड़े स्तर पर, जीवन के अधिकार का उल्लंघन करता है।

सरकार ने इसे साइबर धोखाधड़ी और घोटालों से निपटने का एक उपाय बताया है। देश में हाल के वर्षों में डिजिटल धोखाधड़ी में भारी वृद्धि देखी गई है, जिसमें 'डिजिटल गिरफ्तारी' घोटाले और सिम-स्वैप धोखाधड़ी शामिल हैं। अधिकारियों का मानना है कि सिम सत्यापन को और सख्त करने से ऐसे अपराधों को कम करने में मदद मिल सकती है। लेकिन विशेषज्ञ चेतावनी देते हैं कि सिम बाइंडिंग कोई अचूक समाधान नहीं है।

साइबर अपराधी बहुत जल्दी बदलते रहते हैं। इससे अपराध खत्म होने के बजाय, सिम क्लोनिंग जैसे नए रूपों में विकसित हो सकते हैं, जिसमें हमलावर पीड़ित के सिम कार्ड की नकल करके उससे जुड़े खातों तक पहुंच प्राप्त कर लेते हैं। यदि मैसेजिंग की सुविधा पूरी तरह से सिम पर निर्भर हो जाती है, तो सिम क्लोनिंग करना और भी अधिक आकर्षक तरीका बन जा सकता है। इसी प्रकार, जालसाज चोरी किए गए या अवैध रूप से प्राप्त किए गए सिम कार्ड का फायदा उठाकर पूरी तरह से सत्यापित डिजिटल पहचान बना सकते हैं।

असली बहस सिर्फ सिम कार्डों के बारे में नहीं है, बल्कि इस बारे में है कि आधुनिक संचार को परिभाषित करने वाली डिजिटल पहचानों पर अंततः किसका नियंत्रण है।' ■

आखिर न्यायपालिका में भ्रष्टाचार की चर्चा रोकने की हड़बड़ी क्यों?

सवाल आठवीं कक्षा की किताब का नहीं है। सवाल उस किताब का है जिसे हम संविधान कहते हैं

योगेन्द्र यादव

पहली नजर में बात चाय के प्याले में तूफान जैसी थी। लेकिन जरा गहराई से देखें तो एनसीईआरटी की किताब में न्यायपालिका के भ्रष्टाचार के जिक्र पर उठा बवाल हमारी लोकतांत्रिक व्यवस्था की एक गहरी चुनौती की ओर इशारा करता है। सवाल यह नहीं है कि न्यायपालिका को बदनाम करने की साजिश किसने और क्यों की। असली सवाल यह है कि इस साजिश को ढूंढने और इसे रोकने की आड़ में क्या खेल हो गया। एक तीर से कितने निशाने सध गए।

किस्सा मामूली-सा था। केन्द्रीय शिक्षा बोर्ड सीबीएसई स्कूलों के लिए पाठ्यपुस्तक लिखने वाली संस्था एनसीईआरटी ने कोई बीस साल के अंतराल के बाद हाल ही में नई पाठ्य पुस्तकें जारी करनी शुरू की हैं। (यहां स्पष्ट कर दूं कि इन पंक्तियों का लेखक बीस साल पहले लिखी गई पाठ्य पुस्तकों से जुड़ा था, लेकिन इन नई किताबों से उसका कोई वास्ता नहीं है) उनमें से एक है आठवीं कक्षा के समाज विज्ञान की पाठ्य पुस्तक। इसके दूसरे हिस्से में देश की राजनीतिक प्रणाली का परिचय देते हुए एक अध्याय न्यायपालिका पर है। न्यायपालिका का सामान्य ब्यौरा देने के बाद एक छोटा-सा सेक्शन न्यायपालिका से जुड़ी समस्याओं पर है और एक पन्ना 'न्यायपालिका में भ्रष्टाचार' उपशीर्षक से है। सारा बवाल इसी एक पन्ने पर है।

मजे की बात यह है कि इस हिस्से में ऐसा कुछ भी नहीं है जो विवादास्पद हो। मैं न इस किताब से जुड़ा हूं, न ही एनसीईआरटी की इन नई किताबों का मुरीद हूं। लेकिन कम-से-कम इस हिस्से में कुछ भी आपत्तिजनक नहीं है — पूरी न्यायपालिका को भ्रष्ट बताने या फिर न्यायपालिका में भ्रष्टाचार के सनसनीखेज किस्से सुनाने जैसी कोई भी बात इस पुस्तक में नहीं है। बड़े ही सरकारी अंदाज में पुस्तक यह कहती है कि सभी लोकतांत्रिक संस्थाओं की तरह न्यायपालिका को भी चुनौतियों का सामना करना पड़ता है। फिर बस इतना कहती है कि "लोग न्यायपालिका के विभिन्न स्तरों पर भ्रष्टाचार का सामना करते हैं। इसके कारण गरीब और वंचित लोगों के लिए न्याय हासिल करना और भी कठिन हो जाता है। न्यायाधीशों की कमी, जटिल कानूनी प्रक्रिया और कमजोर आधारभूत ढांचे के चलते न्यायिक प्रणाली को मामलों के भारी संख्या में लंबित मामलों के बोझ का भी सामना करना पड़ता है।" इसके बाद यह बताया गया है कि न्यायपालिका ने इन चुनौतियों का सामना करने के लिए क्या कुछ किया है — सुप्रीम कोर्ट द्वारा बनाई गई आचार संहिता, आंतरिक जांच व्यवस्था का जिक्र है। कुल मिलाकर एक साधारण-सी किताब का नामुराद औपचारिक-सा हिस्सा है जो पढ़ने के बाद आपको याद भी नहीं रहेगा। बहस इस पर हो सकती है कि आठवीं कक्षा के लिए इस तरह की औपचारिक सूचनाओं का क्या महत्व है। यह पूछा जा सकता है कि क्या इस किताब में कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के भ्रष्टाचार के जिक्र भी किया गया है या नहीं। लेकिन न्यायपालिका की अवमानना जैसी कोई बात यहां थी ही नहीं।

अब देखिए कि इस हिस्से पर क्या बवाल कटा। इस हिस्से को एक अंग्रेजी अखबार इंडियन एक्सप्रेस ने पहले पन्ने पर छाप दिया। पढ़कर ऐसा लगता था मानो पाठ्यपुस्तक में कुछ बड़ा क्रांतिकारी प्रयोग हो गया हो। बस फिर क्या था। तुरत-फुरत सुप्रीम कोर्ट ने मामले का स्वतः संज्ञान लिया। उसी सुप्रीम कोर्ट ने जो हर रोज अखबारों में छपने वाले नफरती बयानों या पाठ्यपुस्तकों के जरिये फैलाए जा रहे झूठ और घृणा के मामलों का स्वतः संज्ञान कभी नहीं लेता। माननीय मुख्य न्यायाधीश ने इस सचाई को सामने लाने के लिए मीडिया का धन्यवाद किया। एनसीईआरटी को कड़ी फटकार लगाते हुए माननीय न्यायाधीश ने इसके पीछे गहरी साजिश का अंदेशा बताया। यही नहीं, कोर्ट की अवमानना के ब्रह्मास्त्र का प्रयोग करने की चेतावनी देते हुए एनसीईआरटी को नोटिस दे दिया। कोर्ट की इस फुर्ती को देखकर न जाने कितने लोगों ने सोचा होगा — काश कोर्ट अपने अलावा दूसरों के मामले में भी इतनी ही कड़ाई और फुर्ती दिखाता। सुप्रीम कोर्ट के कितने ही आदेश फाइलों में पड़े धूल खा रहे हैं। न्यायपालिका के कितने ही आदेशों की हर रोज धज्जियां उड़ती हैं — मसलन बुलडोजर राज को रोकना या मैला उठाने की प्रथा को बंद करने के आदेश। काश सुप्रीम कोर्ट अवमानना के ब्रह्मास्त्र का प्रयोग इन मामलों में भी करता।

खैर, सुप्रीम कोर्ट के आगे किसकी हिम्मत होती। कौन यह कहने की जुर्रत करता कि हुजूर इस किताब में तो कुछ भी नहीं लिखा? अगर एक दिन किसी कचहरी में जाकर वहां व्याप्त भ्रष्टाचार की चर्चा सुन लें, तो आप इस किताब तो भूल जाएंगे। कौन याद दिलाता कि कुछ ही महीने पहले पूरे देश ने दिल्ली हाईकोर्ट के एक जज साहब के कारनामे की खबरें पढ़ीं हैं? कि पिछले दस साल में उच्च न्यायपालिका में भ्रष्टाचार की 8,630 शिकायतें दर्ज हुई हैं? कौन पूछता कि इनमें से कितने मामलों की जांच हुई है? कि कितने न्यायाधीशों ने अपनी ही बनाई आचार संहिता का पालन किया है?

एनसीईआरटी ने एकदम हथियार डाल दिए। अपनी ही किताब के हक में एक भी तर्क दिए बिना माफी मांग ली। सरकार ने हाथ खड़े कर दिए, शिक्षा मंत्रालय ने भी हाथ झाड़ लिए। किताब को रद्द ही नहीं किया गया, बल्कि इसकी प्रतियां वापस मंगा ली गईं। मानो दिन रात झूठी खबरों, नफरती भाषणों और पर्चों तथा भड़काऊ फिल्मों से भरे इस देश में आठवीं की यह किताब सबसे खतरनाक साहित्य था।

माननीय न्यायाधीशों की नीयत जो भी रही हो, लेकिन इस आदेश का एक ही अर्थ निकाला जाएगा — कोई भी न्यायपालिका पर उंगली उठाने की जुर्रत न करे। इससे यह संदेह पैदा होता है कि इतिहास के जिस दौर में न्यायपालिका की स्वतंत्रता और निष्पक्षता पर गहरे सवाल उठ रहे हैं, वहां अपने गिरेबान में झांकने की बजाय न्यायपालिका आलोचना का मुंह बंद कर रही है।

जाहिर है इससे सरकार को भी कोई ऐतराज नहीं होगा। जब तक न्यायपालिका सरकार को अपने विरोधियों का मुंह बंद करने से न रोके। सरकार की आलोचना बंद करने पर न्यायपालिका चुप रहे और न्यायपालिका की आलोचना बंद करने पर सरकार चुप रहे, ऐसा कोई भी जुगलबंदी का संदेश लोकतंत्र के लिए घातक होगा। सवाल आठवीं कक्षा की किताब का नहीं है। सवाल उस किताब का है जिसे हम संविधान कहते हैं। ■

अपने गिरेबान में झांकने की बजाय न्यायपालिका आलोचना का मुंह बंद कर रही है। सरकार की आलोचना बंद करने पर न्यायपालिका चुप रहे और न्यायपालिका की आलोचना बंद करने पर सरकार चुप रहे, जुगलबंदी का ऐसा कोई भी संदेश लोकतंत्र के लिए घातक

बंगाल के 'विचाराधीन' वोटरों का क़िस्सा

कुणाल चटर्जी

दो अन्य चुनाव आयुक्तों के साथ दो दिवसीय दौरे (9-10 मार्च) पर कोलकाता आए मुख्य चुनाव आयुक्त ज्ञानेश कुमार का न सिर्फ हवाई अड्डे, बल्कि राजारहाट के न्यू टाउन स्थित वेस्टिन होटल जाते समय भी काले झंडों से स्वागत हुआ। यह होटल बिहार मूल के एक मारवाड़ी व्यापारी परिवार का है और इसे कई केन्द्रीय मंत्रियों, भाजपा नेताओं और मुख्यमंत्रियों का स्नेह और संरक्षण हासिल है।

टीएमसी नेता अभिषेक बनर्जी ने सवाल उठाया कि शहर में पांच हजार से ज्यादा होटल होने के बावजूद, क्या इसे महज संयोग माना जाए कि चुनाव आयुक्तों ने ठहरने के लिए यही होटल चुना? मुख्यमंत्री ममता बनर्जी ने भी चुनाव आयोग पर गड़बड़ी पैदा करने का आरोप लगाया और अंतिम मतदाता सूची के खिलाफ धरना देने की धमकी दी, जिसमें 60 लाख से अधिक मतदाताओं को 'विचाराधीन' दर्ज किया गया है।

जुबानी जंग तब भयावह मोड़ लेती दिखी, जब आयोग की पूर्ण पीठ के साथ बैठक में आमंत्रित जिलाधिकारियों और पुलिस अधीक्षकों को राजनीतिक आकाओं को जानकारी देने के लिए राज्य सचिवालय नबन्ना में तलब किया गया। मुख्य चुनाव आयुक्त को यह नागवार गुजरा और उन्होंने अधिकारियों को चेतावनी दे डाली कि यह सब बर्दाश्त नहीं है और रवैया न बदला तो चुनाव के बाद उन्हें खामियाजा भुगतना पड़ सकता है। मुख्यमंत्री ने भी सवाल दागाः क्या मई के बाद भी मुख्य चुनाव आयुक्त अपने पद पर बने रहेंगे?

विधानसभा का कार्यकाल 7 मई को पूरा हो रहा है और चुनाव उससे पहले होने हैं। ज्यादातर राजनीतिक दलों ने विधानसभा के 294 सदस्यों के चुनाव के लिए एक या दो चरणों में मतदान का आह्वान किया है। हालांकि पांच साल पहले यहां मतदान आठ चरणों में हुआ था।

विशेष गहन पुनरीक्षण (एसआईआर), तार्किक विसंगतियों और माइक्रो पर्यवेक्षकों को लेकर चल रहा गतिरोध सर्वोच्च न्यायालय के 10 मार्च के उस निर्देश से अस्थायी रूप से स्थगित हो गया, जिसमें 'विचाराधीन' के तौर पर चिह्नित लोगों की स्थिति का समाधान करने के लिए अपीलीय न्यायाधिकरणों के गठन का निर्देश दिया गया था। धरना समाप्त करते हुए ममता बनर्जी ने कहा, "रास्ता कुछ हद तक खुल गया है।"

पश्चिम बंगाल, ओडिशा और झारखंड के न्यायिक अधिकारी सुप्रीम कोर्ट के पूर्व आदेश के बाद उनके दावों का सत्यापन करने में भले ही लगे हों, फिलहाल तो 'विचाराधीन' 60 लाख मतदाताओं का भविष्य अनिश्चित बना हुआ है।

ज्ञानेश कुमार ने भी यह घोषणा तो की कि 10 मार्च तक न्यायिक अधिकारियों द्वारा निर्धारित सूची से 10.6 लाख नाम 'क्लीयर' किए जा चुके थे, लेकिन यह स्पष्ट नहीं किया कि क्या वे सब मतदान भी कर पाएंगे। इसके साथ ही 50 लाख और मतदाताओं की स्वीकृति मिलना बाकी है। हालांकि यह आंकड़े 1.67 करोड़ सुनवाइयों से प्राप्त हुए हैं, जिनमें 1.36 करोड़ 'तार्किक विसंगतियां' और 31 लाख मतदाता शामिल हैं जिनके बारे में कहा जाता है कि उनका नाम 2002 की मतदाता सूची में दर्ज नहीं है। हालांकि, इसे लेकर कोई स्पष्टता नहीं है कि उनमें से कितने अब अपना वोट डालने के पात्र हैं।

मुख्य चुनाव आयुक्त ने कहा, "बंगाल की न्यायिक रूप से स्वीकृत मतदाता सूची से न्यायपालिका द्वारा मंजूरी प्राप्त कोई भी व्यक्ति अंतिम मतदाता सूची में शामिल किया जाएगा।" उन्होंने आगे कहा कि जिन मतदाताओं को अब भी कुछ समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है, वे भारतीय नागरिकता के प्रमाण के साथ फॉर्म 6 जमा करके अपना नाम दर्ज करा सकते हैं। हालांकि, अपीलीय न्यायाधिकरणों के बारे में अनिश्चितताएं अब भी बरकरार हैं कि उन्हें कैसे स्थापित किया जाएगा, वे किन प्रक्रियाओं का पालन करेंगे और यह भी कि क्या चुनाव से पहले सभी अपीलों का निपटारा संभव है।

हालांकि मुख्य चुनाव आयोग की मीडिया ब्रीफिंग में बार-बार पूछे गए दो सवालों का कोई जवाब नहीं मिलाः

- कि एसआईआर के दौरान कितने बांग्लादेशी, घुसपैठिये और रोहिंग्या पकड़ में आए?
- कि जिन मतदाताओं ने पहले ही जनगणना प्रपत्र भर दिए थे और आवश्यक दस्तावेज भी प्रस्तुत कर दिए थे, जिनकी शारीरिक रूप से पुष्टि हो चुकी थी, जो गलतफहमियां दूर करने के लिए सुनवाई में उपस्थित हुए थे और जिनका नाम 2002 की मतदाता सूची से मेल खाता पाया गया था, वे अब भी 'विचाराधीन' क्यों थे?

ज्ञानेश कुमार बस मुस्कुराकर रह गए।

*

तृणमूल कांग्रेस चुनाव आयोग और भाजपा के बीच नापाक सांठगांठ का आरोप लगाती रही है। पार्टी का दावा है कि एसआईआर प्रक्रिया पक्षपातपूर्ण है और तृणमूल समर्थक मतदाताओं (अर्थात मुस्लिम और पिछड़े समुदायों) को हटाने का लाभ भाजपा को मिलेगा।

टीएमसी नेता कुणाल घोष ने कहा, "भाजपा को बंगाल में लोगों का मताधिकार छीनने, उन्हें वंचित करने में आनंद मिलता है।" माकपा फर्जी मतदाताओं को हटाने के पक्ष में है, लेकिन आयोग की शक्तियों के दुरुपयोग की विरोधी है। राज्य सचिव मोहम्मद सलीम ने स्पष्ट किया, "हम एसआईआर के खिलाफ नहीं है, बल्कि किसी भी समुदाय के वास्तविक मतदाताओं के नाम हटाने के लिए इस प्रक्रिया के दुरुपयोग के खिलाफ हैं।" कांग्रेस नेता अधीर रंजन चौधरी ने "छोटी-मोटी गड़बड़ियों" को आधार बनाकर लोगों को मतदान प्रक्रिया से बाहर करने पर चिंता जताई।

मालदा जिला एवं सत्र न्यायालय के अधिवक्ता अनवारुल हक ने पुष्टि की कि जिला उप-पंजीयक कार्यालय ने अंतिम मतदाता सूची में 'विचाराधीन' व्यक्तियों से संबंधित संपत्तियों का पंजीकरण एकतरफा रोक दिया है, जबकि जिलाधिकारी ने ऐसे निर्देश से इनकार किया। मालदा के उत्तरी सनी पार्क निवासी एस.के. असिरुद्दीन ने बताया कि उनकी जमीन की बिक्री इस आधार पर रोक दी गई क्योंकि खरीदार का नाम 'विचाराधीन' सूची में था।

यह घटना उन 60 लाख मतदाताओं की संभावित मुश्किलों का अंदाजा लगाने को पर्याप्त है, जिनकी सूची इसी तरह बनाई गई है। अफवाहों पर ध्यान दें तो चुनाव आयोग द्वारा मताधिकार से वंचित किए गए लोगों के बैंक खाते फ्रीज किए जा सकते हैं, उन्हें मोबाइल फोन रखने, लेन-देन करने या संपत्ति पंजीकरण से रोका जा सकता है। इन आशंकाओं के आलोक में पश्चिम बंगाल के विभिन्न हिस्सों से रिपोर्ट की गई प्राकृतिक कारणों (जैसे उच्च रक्तचाप) से हुई मौतों की संख्या और अवसाद और आत्महत्या के बढ़ते मामलों की व्याख्या भी हो रही है।

कोलकाता के बीएलओ अभिजीत भट्टाचार्य कहते हैं- "मेरे पास लोगों के फोन आ रहे हैं, जो पूछते हैं कि अंतिम सूची में उनका नाम क्यों नहीं हैं। कुछ रोते हैं; कुछ तो पहली पूरक सूची में अपना नाम शामिल करवाने के लिए कीमत तक चुकाने को तैयार हैं।" भट्टाचार्य का कहना है कि इनमें अधिकांश असली हैं, लेकिन उन्हें 'तार्किक विसंगति' या 'गलत मैपिंग' के कारण चिह्नित कर दिया गया है, जिसके लिए आमतौर पर आयोग के अपने ऐप्स, उसका एल्गोरिदम या कर्मचारियों की गलतियां जिम्मेदार हैं।

एक अन्य बीएलओ, बसुदेब मंडल उम्मीद जताते हैं कि लंबित मामलों में से अधिकांश नाम आखिरकार पूरक सूचियों में शामिल हो जाएंगे, क्योंकि वे वास्तविक लोग हैं। उन्होंने कहा, "समय कम होने से अधिकारी प्रस्तुत सभी दस्तावेजों का सत्यापन नहीं कर सके, इसलिए बड़ी संख्या में नाम इस सूची दर्ज हैं।"

टीएमसी के सामने बड़ी चुनौती है कि 'लंबित' सूची से ज्यादा से ज्यादा नाम 'नियमित' सूची में कैसे शामिल कराए जा सकें। दूसरी ओर, प्रक्रिया में देरी या कानूनी पेचीदगियों में उलझाकर लंबित सूची को लंबा खींचना भाजपा के लिए फायदेमंद है। मालदा के भाजपा नेता बिस्वजीत रॉय कहते हैं- "उन्होंने उचित दस्तावेज दाखिल नहीं किए हैं, इसलिए उनके नाम सूची से हटा दिए गए हैं।"

चुनाव आयोग के एक सूत्र के अनुसार, लोगों का जनसांख्यिकीय ब्योरा और उपलब्ध न्यायाधीशों की संख्या के आधार पर न्यायिक अधिकारियों को निर्णय संबंधी कागजात सौंपे गए हैं। "कुछ न्यायाधीशों को 2,000 मामले आवंटित हैं, जबकि अन्य के पास 7,000 मामले हैं। वे तार्किक विसंगति जांच रहे हैं और अंतिम सूची में दिए ब्योरे का मिलान दस्तावेजों से कर रहे हैं।"

प्रक्रिया में शामिल एक न्यायिक अधिकारी का कहना है कि बंगाल के 600 और अन्य राज्यों के 150 न्यायाधीशों के साथ, इस प्रक्रिया को पूरा करने में 90 दिन से अधिक का समय लगेगा। "इसलिए, इस बात की संभावना ज्यादा है कि लंबित सूची में शामिल अनेक लोग, भले ही वे वास्तविक मतदाता हों, आगामी विधानसभा चुनाव में अपना वोट देने का मौका खो सकते हैं।"

इसबीच तृणमूल कांग्रेस ने अपने विशाल सांगठनिक तंत्र का इस्तेमाल करते हुए जमीनी स्तर पर अपना एसआईआर अभियान शुरू किया है। प्रकाशित 'अंतिम' सूची के साथ, पार्टी कार्यकर्ता घर-घर जाकर देख रहे हैं कि मौजूद निवासी, सूची में उल्लिखित नामों से मेल खाते हैं या नहीं। यही संगठनात्मक शक्ति अंततः मतदान के दिन निर्णायक साबित होगी।

इस मामले में, बंगाल में टीएमसी भाजपा से काफी आगे नजर आ रही है। ■

पंजीकरण कोलकाता में एसआईआर शिविर में पंजीकरण करवाते लोग

टीएमसी ने जमीनी स्तर पर अपना 'एसआईआर' शुरू कर दिया है। पार्टी कार्यकर्ता घर-घर जा रहे हैं। उसकी यही संगठनात्मक शक्ति अंततः मतदान के दिन निर्णायक साबित होगी। इस मामले में, टीएमसी भाजपा से काफी आगे नजर आ रही

इस समाचारपत्र का प्रकाशन **पवन कुमार बंसल** द्वारा हेराल्ड हाउस, 5-ए, बहादुर शाह जफर मार्ग, नई दिल्ली-11002 से **दि एसोसिएटेड जर्नल्स लिमिटेड**, हेराल्ड हाउस, 5-ए, बहादुर शाह जफर मार्ग, नई दिल्ली-110002 की ओर से संपादन **राजेश झा** द्वारा और मुद्रण आर. सी. मल्होत्रा द्वारा दि इंडियन एक्सप्रेस (प्रा.) लिमिटेड प्रेस, ए-8, सेक्टर-7, नोएडा- 201301, उत्तर प्रदेश से किया जा रहा है।

ताकतवर अमेरिका और ट्रंप को करारा झटका

आशीष रॉय

दुनिया भर की राजधानियों में ईरान और अमेरिका-इसराइल के बीच लंबे समय तक चलने वाले युद्ध की निराशाजनक चर्चाओं के बीच आशंका जताई जा रही है कि यह फारस की खाड़ी में स्थित सुन्नी अरब देशों के लिए भी नुकसानदेह है। इनमें से अधिकांश देशों ने तटस्थता का दावा करते हुए विरोध जताया है, लेकिन कई देशों की धरती पर अमेरिकी सैन्य अड्डे हैं और कम-से-कम कुछ देश तो छिपे तौर पर ही सही अमेरिकी कार्रवाई के पक्ष में थे।

यह लेख लिखते समय युद्ध के कम होने के कोई साफ संकेत तो नहीं हैं, लेकिन माना जा सकता है कि यह मार्च खत्म होते-होते या उससे भी पहले, अचानक समाप्त हो सकता है। कारण यह कि अमेरिका सहित पूरी दुनिया ऊर्जा आपूर्ति के गंभीर संकट से जूझ रही है और स्वाभाविक रूप से जनमत अमेरिकी राष्ट्रपति डॉनल्ड ट्रंप पर अपना रुख बदलने का दबाव डालेगा।

ट्रंप 31 मार्च से चीन की यात्रा पर जाने वाले हैं। इस बात की कम ही संभावना है कि एक ऐसे युद्ध के हालात में कोई शिखर सम्मेलन हो पाएगा, जिसमें वाशिंगटन और बीजिंग अजीब तरह से एक-दूसरे के विपरीत खड़े हैं।

कच्चे तेल की कीमतें चार साल पहले यूक्रेन पर रूसी हमले के बाद से ही अभूतपूर्व स्तर पर पहुंची हुई हैं, और जब तक युद्ध समाप्त नहीं होता और होर्मुज जलडमरूमध्य के माध्यम से आपूर्ति फिर से शुरू नहीं हो जाती, दुनिया को अब तक के सबसे बड़े तेल संकट का सामना करते रहना पड़ सकता है। गैस की कीमतें भी चार साल के उच्चतम स्तर पर हैं, क्योंकि दुनिया के छठे सबसे बड़े उत्पादक कतर ने अप्रत्याशित परिस्थितियों में आपूर्ति बंद करने की घोषणा कर दी है। यहां तक कि अंतरराष्ट्रीय ऊर्जा एजेंसी (आईईए) के आपातकालीन भंडार से भी सीमित समय के लिए ही आपूर्ति छोड़ी जाएगी। दुनिया की दैनिक मांग लगभग 104 मिलियन बैरल प्रतिदिन है।

10 मार्च को ट्रंप सोशल मीडिया पर दावा करते दिखे कि अमेरिकी मिशन 'निर्धारित समय से काफी आगे' है और 'लगभग पूरी तरह से सफल' है। एक सार्वजनिक कार्यक्रम में उन्हें कहते हुए सुना गया, "हम अपनी प्रारंभिक समय-सीमा से काफी आगे हैं... हमने दो बार, और शायद तीन बार भी, नेतृत्व को हराया है।" यह इस बात का संकेत है कि वह सम्मानजनक तरीके से बाहर निकलने की जुगत लगा रहे हैं।

*

ट्रंप ने ईरान से 'बिना शर्त आत्मसमर्पण' चाहा था, लेकिन ऐसा हुआ नहीं। इसलिए, वे खामेनेई सीनियर के खात्मे और ईरान के रक्षा कवच पर हमले का हवाला देते हुए 'मिशन पूरा हुआ' का दावा तो कर ही सकते हैं।

21 जून 2025 (जिस दिन अमेरिका ने फोर्डो, नतान्ज़ और इस्फ़हान पर हमले किए थे) को राष्ट्र को संबोधित करते हुए ट्रंप ने दावा किया था कि "ईरान की प्रमुख परमाणु संवर्धन सुविधाओं को पूरी तरह से नष्ट कर दिया गया है"। हालांकि, रॉयटर्स के अनुसार, अंतरराष्ट्रीय परमाणु ऊर्जा एजेंसी (आईएईए) के प्रमुख राफेल ग्रॉसी ने इस महीने की शुरुआत (9 मार्च) में कहा, "हमारा मानना है कि हमारे अंतिम निरीक्षण तक इस्फ़हान में 200 किलोग्राम से थोड़ा अधिक, शायद उससे भी थोड़ा अधिक, 60 प्रतिशत (संवर्धित) यूरेनियम मौजूद था।" माना जाता है कि यह भंडार उन सुरंगों में मौजूद है जो हमलों में बच गईं, और अगर इसे और समृद्ध किया जाए, तो इससे 10 परमाणु हथियारों के लिए पर्याप्त विस्फोटक सामग्री हासिल हो सकती है। ठीक है कि युद्ध ने ईरान का मिसाइल भंडार कम कर दिया है, लेकिन यह अभी पूरी तरह से खत्म नहीं हुआ है। साथ ही, यूक्रेन के साथ युद्ध से प्राप्त रूसी ड्रोन विशेषज्ञता ईरान को उपलब्ध कराई गई है। होर्मुज जलडमरूमध्य में अमेरिकी नौसेना के विमानवाहक पोतों की तैनाती भी ईरान पर पूर्ण हमले की तैयारी से कहीं ज्यादा सैन्य कूटनीति थी।

फोटो: गेटी इमेजेज

बड़बोलापन ट्रंप ने 10 मार्च को सोशल मीडिया पर एक पोस्ट में दावा किया कि अमेरिकी मिशन 'निर्धारित समय से काफी आगे' और 'लगभग पूरी तरह सफल' है

ट्रंप हताश-निराश हैं कि हमले के बावजूद इस्लामी शासन ने उनके आगे घुटने नहीं टेके। आत्मसमर्पण नहीं किया। पिछले साल से ही ईरान में जन विद्रोह भड़काने के लिए अमेरिका ने पानी की तरह पैसा बहाया, उसके बावजूद हालात बदले नहीं हैं

26 फरवरी को, जिनेवा में अमेरिकी और ईरानी अधिकारियों के बीच वार्ता की मध्यस्थता कर रहे ओमान के विदेश मंत्री बदर अलबुसैदी ने दोनों पक्षों के बीच 'महत्वपूर्ण प्रगति' की घोषणा की। बता दें कि चर्चा आगे बढ़ाने के लिए दोनों पक्षों के विशेषज्ञों को अगले सप्ताह वियना में मिलना था।

इसराइल के गरम मिज़ाज प्रधानमंत्री बेंजामिन नेतन्याहू के लिए, जो देश में भ्रष्टाचार के आरोपों और गाजा में युद्ध अपराधों के लिए अंतरराष्ट्रीय आपराधिक न्यायालय (आईसीसी) के गिरफ्तारी वारंट के बावजूद सत्ता पर काबिज हैं, अमेरिका-ईरान के बीच सुलह किसी बुरी खबर से कम नहीं है।

ट्रंप, जो तेहरान के साथ ऐसा समझौता करने की महत्वाकांक्षा रखते थे जिसका श्रेय उन्हें मिल सके, ने चल रही बातचीत को धोखा दिया। खबरों की मानें तो ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि वह नहीं चाहते थे कि ईरान के सर्वोच्च नेता की बर्खास्तगी का पूरा श्रेय इसराइल को मिले। उन्होंने तो यहां तक दावा कर दिया कि ईरान के नए नेतृत्व का फैसला वह ही करेंगे।

ट्रंप अब हताश-निराश हैं कि इस हमले के बावजूद इस्लामी शासन ने उनके आगे घुटने नहीं टेके। आत्मसमर्पण नहीं किया। पिछले साल से ही ईरान में जन विद्रोह भड़काने के लिए अमेरिका ने जिस तरह पानी की तरह पैसा झोंका उसके बावजूद हालात नहीं बदले हैं। दमनकारी कारवाई से स्वाभाविक रूप से नाराज उदारवादी ईरानी, ऐसे प्रलोभनों का आसानी से शिकार बन जाते हैं। लेकिन आंशिक रूप से ही सही जनवरी का सीआईए समर्थित विद्रोह विफल रहा, और एक निर्मम इस्लामी सत्ता प्रतिष्ठान की कार्रवाई में हजारों लोगों की जान चली गई।

ईरान एक विभाजित राष्ट्र है। देश का बड़ा हिस्सा सत्ताधारी मुल्लाओं को सत्ता से बेदखल करने के पक्ष में रहा है। लेकिन इसके बावजूद नए सर्वोच्च नेता मोजतबा खामेनेई शुरुआत में इसलिए भी सहानुभूति बटोर सकते हैं, कि उनके पिता की हत्या के लिए किए गए घातक हमले में उनकी मां, पत्नी और एक बेटे की भी मौत हो गई थी।

ऐसे में, सत्ता परिवर्तन की संभावना फिलहाल तो न के बराबर है।

*

इस बीच, ईंधन की कीमतें आसमान छू रही हैं और अमेरिकी आवाम भी भोजन और अन्य आवश्यक वस्तुओं की बढ़ती कीमतों की मार महसूस करने लगा है। ट्रंप को नवंबर में मध्यावधि चुनाव का सामना करना है। लगभग 60 प्रतिशत अमेरिकी मौजूदा युद्ध के खिलाफ हैं और सैनिकों के शव अमेरिका लौटने के साथ यह संख्या और भी बढ़ सकती है ।

युद्ध और उससे उत्पन्न कच्चे तेल के संकट के चलते रूसी तेल की खरीद पर लगे अमेरिकी प्रतिबंध हटाए जा रहे हैं। इसी का एक शर्मनाक पहलू वह घोषणा थी कि भारत को अब रूसी तेल की खरीद फिर से शुरू करने की अनुमति दे दी गई है। ट्रंप रूसी राष्ट्रपति व्लादिमीर पुतिन से फोन पर हुई अपनी बातचीत को लेकर उत्साहित दिखे, जिसमें उन्होंने यूरोप को तेल और गैस की आपूर्ति करने को लेकर तत्परता का संकेत दिया था। अब अगर यूरोप रूस के साथ व्यापार फिर से शुरू करने के लिए मजबूर हो जाता है, तो यह क्रेमलिन के लिए एक बड़ी जीत होगी।

नरेन्द्र मोदी सरकार की लगातार जारी रणनीतिक गलतियों की बात करें तो, ईरान पर इसराइल के हमले से ठीक 24 घंटे पहले तेल अवीव में उनकी उपस्थिति कूटनीतिक रूप से आत्मघाती कदम था। मोदी का खुला पक्षपात और खामेनेई की हत्या पर उनकी चुप्पी ने विकासशील देशों की नजरों में भारत की छवि को और ज्यादा नुकसान पहुंचाया है।

इसकी तुलना पी.वी. नरसिम्हा राव के नेतृत्व में भारत द्वारा 1992 में इसराइल के साथ राजनयिक संबंधों को बेहतर बनाने के लिए किए गए कुशल प्रयासों से की जानी चाहिए, जिसके बाद भारत को एक ऐसे तटस्थ पक्ष के रूप में देखा जाने लगा, जिस पर इसराइली और फिलिस्तीनी दोनों भरोसा कर सकते थे। मोदी का नेतन्याहू की ओर झुकाव वैश्विक दक्षिण में भारत की छवि को धूमिल कर रहा है। मौजूदा सरकार के तहत, भारत संयुक्त राष्ट्र महासभा में इसराइल पर होने वाले मतदान में लगातार गलत खांचे में रहा है, और इस वर्ष के अंत में भारत द्वारा आयोजित किए जाने वाले ब्रिक्स शिखर सम्मेलन में पश्चिम एशिया मुद्दे पर खुद को अल्पमत में पाएगा। ■

रिपोर्ट न्यायमूर्ति कुरियन जोसेफ की अध्यक्षता वाली समिति के सदस्य मुख्यमंत्री एम.के. स्टालिन को रिपोर्ट सौंपते हुए

सत्ता किसके पास, आखिर कौन है बॉस?

क्या कहती हैं जस्टिस कुरियन जोसेफ समिति की सिफारिशें

ए.जे. प्रबल

दिसंबर 2025 में, लोकसभा ने 'एक राष्ट्र, एक चुनाव' (ओएनओई) विधेयक के मसौदे की जांच करने वाली संयुक्त संसदीय समिति का कार्यकाल 2026 के बजट सत्र के अंतिम सप्ताह तक बढ़ा दिया। अब अगर इसे स्थगित नहीं किया गया, तो यह विधेयक 2 अप्रैल 2026 को सत्र समाप्त होने से पहले पेश और पारित होने की संभावना है। यह व्यवस्था तो पहले ही दी जा चुकी है, यानी तय हो चुका है कि विधेयक को 50 प्रतिशत राज्यों के अनुमोदन की जरूरत नहीं होगी।

केन्द्र सरकार अपनी ताकत का अहसास कराने में यह जताने से कभी नहीं चूकती कि असली बॉस कौन है! इस पर उसका रुख हमेशा आक्रामक रहा है। राज्यों को वादे के मुताबिक लाभ या उनका हक दिए बिना स्वायत्तता और वित्त दोनों छोड़ने के लिए मजबूर किया गया है, जबकि केन्द्रीय उपकर और अधिभार - जो 2016-17 में 1.99 लाख करोड़ रुपये से बढ़कर 2026-27 में 5.82 लाख करोड़ रुपये हो गए हैं- ने विभाज्य निधि कम कर दी है। संवैधानिक पदों का राजनीतिकरण और शिक्षा, स्वास्थ्य और भाषा जैसे क्षेत्रों में राज्य की नीतियों में हस्तक्षेप तेज होता गया है, जैसा कि राज्यपालों के अचानक फेरबदल में दिखाई दिया।

यह केन्द्र द्वारा राज्यों को अंगूठा दिखाने जैसा है। यही कारण है कि केन्द्र-राज्य संबंधों पर न्यायमूर्ति कुरियन जोसेफ समिति की रिपोर्ट खासी महत्वपूर्ण हो गई है।

सुप्रीम कोर्ट के पूर्व न्यायाधीश की अध्यक्षता में तैयार की गई इस रिपोर्ट का पहला भाग (तमिल और अंग्रेजी में) 16 फरवरी को तमिलनाडु विधानसभा में पेश किया गया। इसमें भाषा नीति, राज्यपालों की नियुक्ति और भूमिका तथा शिक्षा, स्वास्थ्य, परिसीमन, चुनाव और जीएसटी से संबंधित नीतियां तैयार करने में राज्यों की जिम्मेदारियों सहित 10 प्रमुख विषय शामिल किए गए थे।

1947 और 1950 के बीच 552 रियासतों का ब्रिटिश भारत में विलय होने से संविधान का झुकाव एक मजबूत केन्द्र की ओर हुआ। लेकिन अप्रैल 2025 में समिति की नियुक्ति करते समय एम.के. स्टालिन ने तर्क दिया कि यह मॉडल अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने में विफल रहा है।

रिपोर्ट में कहा गया है कि एस.आर. बोम्मई बनाम भारत संघ (1994) मामले में सर्वोच्च न्यायालय के इस स्पष्ट फैसले के बावजूद कि संघवाद संविधान की 'बुनियादी संरचना' का हिस्सा है, केन्द्र की ओर झुकाव बरकरार है। 'एक राष्ट्र-एक चुनाव' की दिशा में बढ़ते कदम पर समिति की टिप्पणी है कि मसौदा विधेयक में 'संक्षिप्त कार्यकाल या अधूरे कार्यकाल के लिए चुनाव अनिवार्य कर दिए गए हैं और विधानसभा चुनावों को स्थगित करने के लिए चुनाव आयोग को असीमित/अनियंत्रित विवेकाधिकार दे दिए गए हैं... इसके फायदे बढ़ा-चढ़ाकर बताए गए हैं और संरचनात्मक नुकसान भी हैं, इसलिए यह प्रस्ताव बुनियादी संरचना का उल्लंघन करता है और इसे वापस लिया जाना चाहिए'।

समिति का तर्क है कि राज्यों को सशक्त बनाना 'संघ को कमजोर करना नहीं है, बल्कि इसे उचित आकार देना है' ताकि यह वास्तव में राष्ट्रीय जिम्मेदारियों पर ध्यान तो केन्द्रित कर ही सके, साथ ही साथ राज्यों को प्रभावी शासन के लिए जरूरी स्वायत्तता बहाल कर सके... एक ऐसा संघ जो अपनी ऊर्जा को उन कार्यों में बिखेर देता है जिन्हें राज्यों और स्थानीय निकायों द्वारा बेहतर ढंग से किया जा सकता है, उन व्यापक राष्ट्रीय चुनौतियों से ध्यान भटकाने का जोखिम उठाता है जिनका समाधान सिर्फ वही कर सकता है।'

रिपोर्ट के साथ मुख्यमंत्रियों को लिखे अपने पत्र में एम.के. स्टालिन ने लिखा, 'नई दिल्ली में बड़े-बड़े मंत्रालय मौजूद हैं जो राज्यों के कार्यों की नकल करते हैं और अक्सर सूक्ष्म प्रबंधन और प्रक्रियात्मक निगरानी के जरिये राज्यों की प्राथमिकताओं को निर्देशित करने का प्रयास करते हैं।' पिछले साल के अपने कई साक्षात्कारों में से एक में न्यायमूर्ति कुरियन जोसेफ ने बताया कि हालांकि कई लोग, जिनमें जिम्मेदार नेता भी शामिल हैं, 'राष्ट्र सर्वोपरि' कहते दिखते हैं, जबकि वास्तव में इसे 'संविधान सर्वोपरि' होना चाहिए।

*

1967 में, तमिलनाडु के प्रथम द्रमुक मुख्यमंत्री सी.एन. अन्नादुरई ने व्यंग्य करते हुए कहा था कि जिस प्रकार बकरी को दाढ़ी की जरूरत नहीं होती, उसी प्रकार किसी राज्य को भी राज्यपाल की जरूरत नहीं।

मौजूदा मुख्यमंत्री एम.के. स्टालिन, जिनका राज्यपाल आर.एन. रवि के साथ चल रहा विवाद जगजाहिर है, कहते हैं, "लोकतंत्र में सरकारें निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा चलाई जानी चाहिए, न कि औपचारिक नियुक्तियों के द्वारा।" रवि अब बंगाल के राज्यपाल सी.वी. आनंद बोस का स्थान लेंगे, जिन्होंने दोनों राज्यों में विधानसभा चुनावों से कुछ सप्ताह पहले अचानक इस्तीफा दे दिया था। दोनों राज्यों से इस संबंध में कोई परामर्श नहीं किया गया।

समिति की सिफारिश है कि राज्यपालों की नियुक्ति राज्य विधानसभा द्वारा अनुमोदित तीन नामों के पैनल से की जाए और उन्हें पांच साल का एक ही कार्यकाल दिया जाए, जिसे आगे बढ़ाने का कोई प्रवधान न हो। समिति का सुझाव है कि राज्यपालों को उनके कार्यकाल से पहले केवल राज्य विधानसभा के प्रस्ताव द्वारा ही हटाया जा सकता है और राज्यपालों की विवेकाधीन शक्तियों को सीमित करने के लिए संविधान की 13वीं अनुसूची को फिर से तैयार किया जाए।

समिति की कुछ प्रमुख सिफारिशें इस प्रकार हैं:

संविधान संशोधन - समिति द्वारा उठाया गया एक प्रमुख संरचनात्मक मुद्दा अनुच्छेद 368 के तहत संविधान संशोधन प्रक्रिया का लचीलापन है। समिति का तर्क है कि यह लचीलापन राज्यों द्वारा सशक्त अनुमोदन या सार्वजनिक परामर्श के बिना संघीय संतुलन में महत्वपूर्ण परिवर्तन की अनुमति देता है। समिति की सिफारिश है कि सभी संवैधानिक संशोधनों के लिए संसद के प्रत्येक सदन में दो-तिहाई बहुमत आवश्यक होना चाहिए और अधिकांश संशोधनों के लिए भारत की दो-तिहाई आबादी का प्रतिनिधित्व करने वाले दो-तिहाई राज्यों द्वारा अनुमोदन अनिवार्य किया जाना चाहिए। विशिष्ट राज्यों को प्रभावित करने वाले संशोधनों के लिए केवल उन्हीं राज्यों द्वारा अनुमोदन अनिवार्य होना चाहिए और संवैधानिक संशोधन विधेयकों को प्रस्तुत करने से पहले तीन महीने का सार्वजनिक परामर्श अनिवार्य बना देना चाहिए।

अनुच्छेद 2 और 3- समिति ने अनुच्छेद 3 के तहत राज्य सीमाओं के पुनर्गठन के मामले में संसद की एकतरफा शक्ति को संघ में राज्यों की सुरक्षित संवैधानिक इकाइयों की अवधारणा के विपरीत बताते हुए इस पर आपत्ति जताई है। इसके अनुसार नए राज्य के गठन के लिए संबंधित राज्य की सहमति आवश्यक होनी चाहिए, अन्यथा प्रभावित क्षेत्र में जनमत संग्रह कराना होगा। राष्ट्रपति शासन के अधीन वाले किसी भी राज्य में क्षेत्रीय पुनर्गठन नहीं किया जाना चाहिए। अनुच्छेद 3ए में नए केन्द्र शासित प्रदेशों के गठन पर रोक लगाने और मौजूदा केन्द्र शासित प्रदेशों के लिए आवधिक जनमत संग्रह अनिवार्य करने का प्रावधान होना चाहिए।

पृथक चुनाव आयोगः समिति की सिफारिश है कि भारत के चुनाव आयोग को लोकसभा, राज्यसभा और केन्द्र शासित प्रदेशों के चुनाव कराने तक सीमित रखा जाए, जबकि राज्य विधानसभा चुनावों का जिम्मा स्वतंत्र राज्य चुनाव आयोगों को सौंपा जाए। समिति ने संविधान का एक सौ उनतीसवां संशोधन विधेयक, 2024 वापस लिए जाने को कहा है, जिसमें एक साथ चुनाव कराने का प्रस्ताव है, और इसे संघीय संतुलन और विधायी जवाबदेही के लिए नुकसानदेह बताया है।

दल-बदल विरोधी कानून- समिति ने दल-बदल करने वालों के लिए छह साल तक चुनाव लड़ने पर प्रतिबंध लगाने, विलय अपवाद को हटाने और रणनीतिक इस्तीफों को दल-बदल के रूप में मानने का प्रस्ताव किया है।

राज्यों को शिक्षा का अधिकार वापस मिलेः समिति ने 42वां संवैधानिक संशोधन रद्द करने और चिकित्सा शिक्षा सहित शिक्षा को वापस राज्य सूची में शामिल करने की सिफारिश की है। समिति ने शीर्ष विश्वविद्यालयों को केन्द्रीय नियामक नियंत्रण से मुक्त करने और केन्द्र सरकार के हस्तक्षेप को महज शैक्षणिक मानकों तक सीमित रखने की भी सिफारिश की है। समिति ने राष्ट्रीय परीक्षण एजेंसी को भंग करने, राष्ट्रीय चिकित्सा आयोग अधिनियम, 2019 में संशोधन करके एनईईटी और एनईएक्सटी समाप्त करने और अखिल भारतीय कोटा को राज्यों द्वारा निर्धारित स्वैच्छिक कोटा से बदलने की भी सिफारिश की है।

जीएसटी परिषद सुधार और राजकोषीय स्वायत्तताः समिति ने केन्द्र की वीटो शक्ति को कम करने या खत्म करने, जीएसटी परिषद की सिफारिशों को सलाहकारी प्रकृति का स्पष्ट करने और राज्यों को सीमित दायरे में एसजीएसटी दरों में बदलाव करने की अनुमति देने का प्रस्ताव किया है। इसने एक स्वतंत्र जीएसटी परिषद सचिवालय, एक सेवानिवृत्त सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश की अध्यक्षता में एक वैधानिक जीएसटी विवाद निपटान प्राधिकरण, वार्षिक जीएसटी दर कैलेंडर बनाए जाने और 'एक उत्पाद एक दर' सिद्धांत लागू करने की भी सिफारिश की है।

अन्य महत्वपूर्ण सिफारिशों में वर्ष 2126 तक परिसीमन को स्थगित करना, 1971 की जनगणना के आधार पर अंतर-राज्यीय सीट आवंटन पर रोक को 2126 तक या कुल प्रजनन दर के एक समान होने तक बढ़ाना; अंग्रेजी को स्थायी संपर्क भाषा घोषित करना; अलग-अलग केन्द्र और राज्य परिसीमन आयोग और राज्यसभा में राज्यों का समान प्रतिनिधित्व, प्रत्येक राज्य के लिए छह सीटें; राज्यसभा में मनोनीत सदस्यों की व्यवस्था का खत्मा और राज्यसभा सदस्यों के लिए अनिवार्य अधिवास की आवश्यकता को समाप्त करना शामिल है। ■

समिति का तर्क है कि राज्यों को सशक्त बनाना, 'संघ को कमजोर करना नहीं, बल्कि उसे सही आकार देना है, ताकि वह वास्तविक राष्ट्रीय जिम्मेदारियों पर ध्यान केन्द्रित करने के साथ-साथ प्रभावी शासन के लिए आवश्यक स्वायत्तता बहाल कर सके'

वन्यजीवन की कीमत पर यह कैसी मेहरबानी

यह तर्क गले नहीं उतरता कि वनतारा में तेंदुए भेजने से मानव-पशु संघर्ष कम करने में मदद मिलेगी

रश्मि सहगल

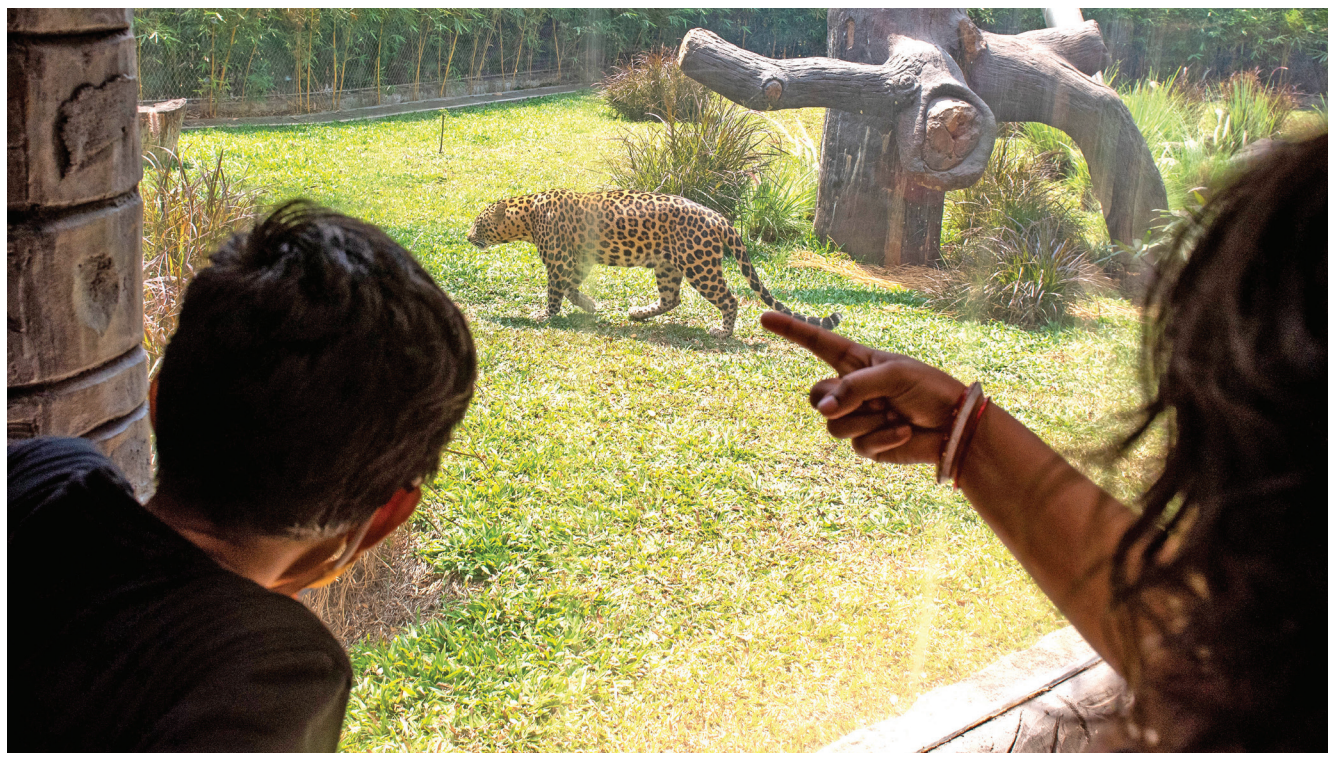

अनायास नहीं बहाना भले ही पशु-मानव संघर्ष में कमी लाने का हो, असलियत कुछ और ही लगती है

महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री देवेंद्र फडणवीस के उस हालिया फैसले से पशु संरक्षणवादी स्तब्ध हैं, जिसमें राज्य के रेस्क्यू सेंटरों से 50 तेंदुए रिलायंस स्वामित्व वाले वनतारा (ग्रीन्स जूलॉजिकल रेस्क्यू एंड रिहैबिलिटेशन सेंटर) में स्थानांतरित करने की बात है। फडणवीस महाराष्ट्र राज्य वन्यजीव बोर्ड (एसबीडब्ल्यूएल) के प्रमुख भी हैं और उनका दावा है कि यह कदम पशु-मानव टकराव कम करने में मददगार होगा। महाराष्ट्र कैडर के मुख्य वन संरक्षक (क्षेत्रीय) जितेंद्र रामगाओकर मानते हैं- "वनतारा गांवों पर बार-बार हमला करने वाले तेंदुए संभालने में पूरी तरह सक्षम है।"

लखनऊ चिड़ियाघर के निदेशक रह चुके सेवानिवृत्त आईएफएस अधिकारी डॉ. उमाशंकर सिंह वनतारा को इस तरह पशु सौंपने की प्रवृत्ति की निंदा करते हैं। उन्होंने कहा, "रेस्क्यू सेंटर विशिष्ट स्थान, जलवायु और आवश्यकता के अनुरूप होने चाहिए। बचाव और पुनर्वास केन्द्र का उद्देश्य ही पशुओं को जंगल में वापस छोड़ने से पहले उनका उपचार करना है।"

लेकिन हमारे राजनेता और नौकरशाह इससे उलट सोचते हैं!

आनायास तो नहीं कि पिछले चार वर्षों में वनतारा दुनिया का सबसे बड़ा निजी चिड़ियाघर बनकर उभरा, जिसमें 2,000 से अधिक प्रजातियां हैं। 2019 और 2023 के बीच, इसने 3,819 से अधिक वन्यजीव हासिल किए, जिनमें कई विदेशी प्रजातियां भी शामिल हैं। कई तो दक्षिण अफ्रीका से आए, जो लाभ के वास्ते बड़ी बिल्लियों के प्रजनन के लिए कुख्यात है। रिपोर्ट बताती हैं कि वनतारा ने दक्षिण अफ्रीका से 50 संकर शेर, 40 संकर बाघ, 40 चीते, 10 सर्वल और 20 जिराफ आयात किए। आधिकारिक रिकॉर्ड के अनुसार, यह संख्या बहुत कम है।

हमारे राजनीतिज्ञ वनतारा पर इस कदर फिदा हैं कि मध्य प्रदेश के मुख्यमंत्री मोहन यादव न सिर्फ कई बार इस केन्द्र का दौरा कर आए, एमपी टाइगर फाउंडेशन समिति को उज्जैन, जबलपुर और उनो में भी ऐसे केन्द्र स्थापित करने के लिए वनतारा के साथ समझौते के लिए भी कहा।

उत्साहित अतिरिक्त मुख्य सचिव (वन) अशोक वर्नाल कहते हैं कि वनतारा द्वारा जीन मैपिंग पर वैज्ञानिक विशेषज्ञता देने के अलावा, "दुनिया भर के बाघ विशेषज्ञ" अब "संरक्षण, प्रबंधन और अनुसंधान के उद्देश्य से लिए" एक डेटाबेस तैयार करेंगे।

यह बहुत अच्छा होगा- 'बशर्ते मानचित्रण के लिए बाघ बचे भी तो हों!' 2025 में, मध्य प्रदेश ने 55 बाघ खोए जबकि महाराष्ट्र ने 41। महज 2026 के प्रथम छह हफ्तों में ही मध्य प्रदेश ने 11 बाघ खो दिए और महाराष्ट्र ने आठ।

तेंदुओं के मामले में स्थिति और गंभीर है। महाराष्ट्र में जनवरी से अप्रैल 2025 के बीच 40 तेंदुओं की मौत हुई। महाराष्ट्र का उदासीन रवैया तो वन्यजीव संरक्षण अधिनियम की अनुसूची 1 से तेंदुओं को हटाने की मांग से ही स्पष्ट हो जाता है। इससे उन्हें मिलने वाला संरक्षण खत्म होगा और उनके शिकार पर लगे कानूनी प्रतिबंध भी शिथिल होंगे। राज्य सरकार ने मानव-वन्यजीव संघर्ष कम करने के उपाय के रूप में तेंदुओं की नसबंदी की अनुमति भी केन्द्र से हासिल कर ली। पर्यावरणविद् रेणु पॉल असली समस्या की ओर इशारा करती हैं: "भारत में तेजी से नष्ट होते जंगलों के कारण वन्यजीव मानव-प्रधान क्षेत्रों की ओर पलायन को मजबूर हो रहे हैं। मानव-वन्यजीव संघर्ष में वृद्धि का एकमात्र कारण उनके आवास क्षेत्र का कम होते जाना है।"

मध्य प्रदेश कैडर के सेवानिवृत्त आईएफएस अधिकारी आर. श्रीनिवास मूर्ति का मानना है कि केन्द्र ने वनतारा समझौता आसान बनाने को जिस तरह संशोधन पर संशोधन किए, एक गलत मिसाल कायम हुई, जिसमें सीआईटीईएस (वन्यजीवों और वनस्पतियों की लुप्तप्राय प्रजातियों के अंतर्राष्ट्रीय व्यापार पर कन्वेंशन) में संशोधन भी शामिल है।

लोग मानते हैं कि अनंत अंबानी और उनकी टीम को 'मानव-वन्यजीव संघर्ष कम करने' की इतनी ही चिंता थी, तो आर्थिक सहायता देकर इस दिशा में सरकार के साथ बेहतर सहयोग कर सकते थे।

लगता है, राज्य सरकार पर्यावरण की कीमत पर उद्योगपतियों की मदद में कुछ भी करने को तत्पर है। जनवरी 2026 में, फडणवीस ने एसबीडब्ल्यूएल की बैठक की अध्यक्षता की, जिसमें पारिस्थितिक रूप से संवेदनशील ताडोबा-अंधारी बाघ गलियारे में खुले में लौह अयस्क खनन को हरी झंडी दी गई। इससे 18,000 से अधिक पेड़ नष्ट होने और कम से कम 60 बाघों के विस्थापित होने का खतरा उत्पन्न हो गया। (पर्यावरण कार्यकर्ता बंदू धोत्रे, जो प्रस्तावित खनन परियोजना की मंजूरी के बाद से ही भूख हड़ताल पर थे, को 9 मार्च को विरोध स्थल से जबरन हटाकर अस्पताल ले जाया गया।)

उनकी 'हिटलिस्ट' में अगला नाम संजय गांधी राष्ट्रीय उद्यान का है। बीएमसी बोरीवली स्थित इस 103,840 हेक्टेयर के हरे-भरे क्षेत्र में होम-स्टे, रिट्रीट और वाणिज्यिक गांवों के निर्माण के लिए एक मास्टर प्लान पहले ही दे चुका है।

> विशेषज्ञ यहां तक मानते हैं कि अनंत अंबानी और उनकी टीम को 'मानव-वन्यजीव संघर्ष कम करने' की इतनी ही चिंता थी, तो वे आर्थिक सहायता देकर सरकार के साथ बेहतर सहयोग कर सकते थे

*

पाठक भूले नहीं होंगे कि 2025 में महाराष्ट्र सरकार द्वारा हाथी महादेवी को वनतारा में स्थानांतरित करने पर कैसा जनविरोध हुआ था। तब जैन समुदाय ने उसे किसी निजी उद्यम को सौंपने के बजाय सरकारी सुविधा में स्थानांतरित करने की मांग की थी।

भारत में वन्यजीवों के लिए 20 विशेष मान्यता प्राप्त केन्द्र पहले से हैं। इसके अलावा वन्यजीव (संरक्षण) अधिनियम की धारा 38-एच के तहत मान्यता प्राप्त 155 चिड़ियाघरों से जुड़े कई गुप्त बचाव केन्द्र भी हैं। अक्तूबर 2025 तक, भारत में लगभग 425 वन्यजीव बचाव सेवाएं और 570 से अधिक अधिकृत वन्यजीव अभयारण्य दर्ज थे, जो गैर-सरकारी संगठनों के साथ मिलकर घायल या विस्थापित वन्यजीवों के बचाव और पुनर्वास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

अधिकांश आईएफएस अधिकारी वनतारा को मिल रही अहमियत से बेहद नाराज हैं। नाम न छापने की शर्त पर एक अधिकारी ने कहा, "हम अपने बाघों और तेंदुओं की देखभाल के लिए अपने स्तर पर हर तरह से सक्षम हैं। लेकिन अगर हमारा राजनीतिक वर्ग अपनी जिम्मेदारी से पल्ला झाड़ता है और विरोध करने वाले अधिकारियों को निशाना बनाता है, तो कार्यकर्ता बड़े पैमाने पर खुद को अलग कर लेंगे।"

असम के वन्यजीव पुनर्वास और संरक्षण केन्द्र को ही लें। रणनीतिक रूप से काजीरंगा राष्ट्रीय उद्यान के निकट स्थित इस केन्द्र ने 5,000 से अधिक आपात स्थितियों को संभाला है; और घायल जानवरों में से 60 प्रतिशत को सफलतापूर्वक जंगल में वापस पहुंचाया गया है।

पूर्वी असम के एक वरिष्ठ वन अधिकारी सवाल उठाते हैं कि पूर्वोत्तर के पूरी तरह स्वस्थ हाथियों को भी 3,000 किलोमीटर से ज्यादा दूर जामनगर क्यों भेजा गया? इन हाथियों को तो गश्त के लिए वन विभाग को सौंपा जाना चाहिए था। उन्हें बाड़ों में रखने के बजाय अर्ध-जंगली वातावरण में रखने से उन्हें जंगली हाथियों के साथ घुलने-मिलने और यहां तक कि प्रजनन करने का अवसर मिलता।

वनतारा जिस जगह है, वह स्थान भी इसके लिए उपयुक्त नहीं है: यह रिलायंस के विशाल पेट्रोकेमिकल परिसर के ठीक बगल में स्थित है जो न सिर्फ अत्यधिक प्रदूषणकारी है, बल्कि यहां दुर्घटनाओं और आग लगने का भी बड़ा जोखिम है। लेकिन सारी चिंताएं दरकिनार कर, वनतारा का विस्तार जारी है। अभी वे केवडिया स्थित गुजरात राज्य चिड़ियाघर की देखरेख कर रहे हैं। राज्य के मुख्य वन्यजीव संरक्षक नित्यानंद श्रीवास्तव ने मीडिया से कहा- "वन्यजीव प्रबंधन कमजोर हो गया है। ऐसे में वन्यजीवों के प्रति जुनून रखने वाली कंपनियों का आगे आना महत्वपूर्ण है।"

वनतारा ने जूनागढ़ के सक्करबाग चिड़ियाघर से 60 और गुवाहाटी चिड़ियाघर से दो तेंदुए खरीदे हैं। कंपनी ने महाराष्ट्र सीमा शुल्क और वन विभाग, हिमाचल प्रदेश के धौलाधार प्रकृति पार्क, नागालैंड चिड़ियाघर और दिल्ली चिड़ियाघर से भी जानवर हासिल किए हैं। इन अफवाहों के बाद कि वनतारा 10,000 हाथी तक खरीदने जा रहा है, हाथियों की कीमतें भी अचानक आसमान छूने लगीं!

इसने काजीरंगा राष्ट्रीय उद्यान के बगल में स्थित एक चाय बागान भी खरीद लिया है। क्या इसे जमीन कब्जाने का मामला न माना जाए?

जानकार तो यहां तक कहते हैं कि भारत में हाल के दिनों में वन्यजीव व्यापार के खिलाफ नियमों में जिस तरह ढील मिली है, बड़ी बात नहीं कि वनतारा अंततः एक प्रजनन फार्म ही स्थापित कर डाले। कुछ लोगों का मानना है कि समूह संरक्षित क्षेत्रों के बाहर निजी अभयारण्य बनाने की तैयारी में है। इसकी पुष्टि के लिए अनंत अंबानी का हालिया बयान पर्याप्त है जब उन्होंने एक पत्रकार से कहा- आपने अभी तक जो कुछ देखा है, वह मेरी योजना का महज 8-10 प्रतिशत है।

सेवानिवृत्त आईएफएस अधिकारी प्रकृति श्रीवास्तव कहती हैं, "लगता है हमारे विशाल जंगलों और जैव विविधता की रक्षा और संरक्षण के बजाय, सरकार हमारे प्रमुख राष्ट्रीय संसाधनों के निजीकरण पर उतारू है। वन्यजीवों को आमतौर पर राज्य को इसलिए भी सौंपा जाता है कि इससे जानवर पीढ़ियों तक बचे रहते हैं। अब अगर निजी समूह इस परियोजना में रुचि लेना छोड़ देते हैं तो सोचिए, जानवरों का क्या होगा? अफ्रीका में देखा भी गया है कि दूसरी पीढ़ी के मालिकों के कार्यभार संभालने के बाद जानवर भूख से मर गए।"

डॉ. उमा शंकर सिंह कहते हैं, "इस सारे उद्यम की अंतिम परिणति क्या होगी, कोई नहीं जानता। उदाहरण के लिए, चीन ने बाघों के अंगों की व्यावसायिक बिक्री या व्यापार के लिए बाघों का पालन-पोषण शुरू कर दिया है। जानवरों का आयात बहुत जोखिम भरा काम है क्योंकि यह पता नहीं होता कि उनमें कौन से वायरस, बैक्टीरिया और अन्य विदेशी रोग हो सकते हैं। चिड़ियाघर निदेशक होने के नाते, मुझे पता है कि ये जानवर कितने नाजुक होते हैं।"

डॉ. सिंह ने प्रधानमंत्री और मंत्रालय के अधिकारियों को ऐसे एक संगठन के खिलाफ कई पत्र भी लिखे हैं, जो उनकी नजर में "अवैध और गैर-कानूनी" है। जाहिर है, अभी तक उन्हें कोई जवाब नहीं मिला है। ■

वंदे भारत ट्रेनों की हक़ीक़त

घोषणा वाली स्पीड तो नहीं ही है, शौचालय गंदे और खाने-पीने के सामान कहीं महंगे

अभय शुक्ला

फोटो: अतुल शुक्ला

मैंने यह बात पहले भी कही है और इस बहरी सरकार के निस्संदेह फायदे के लिए एक बार फिर दोहरा रहा हूं - पुरानी शराब को नए रूप में पेश करने से शराब बेहतर नहीं हो जाती। इसका एक प्रमुख उदाहरण भारतीय रेलवे है, जिसकी वंदे भारत, तेजस, नमो भारत आदि जैसी कई नई ट्रेनों का प्रचार किया गया है और दावा किया गया है कि इससे भारतीयों के यात्रा करने का तरीका बदल गया है। जबकि सचमुच ऐसा नहीं है, बल्कि इससे यात्रा और महंगी हो गई है।

पिछले महीने मुझे अपने गृहनगर कानपुर जाना पड़ा, ताकि मैं अपनी खोई हुई जड़ों को फिर से जीवंत कर सकूं। मैंने दिल्ली-वाराणसी वंदे भारत ट्रेन से यात्रा करने का फैसला किया, जिसे विलासिता, गति और समय की पाबंदी का प्रतीक बताया जाता है। (वंदे भारत में यह मेरी पहली यात्रा थी)। लेकिन ऐसा कुछ भी नहीं था। यह भ्रम नई दिल्ली स्टेशन के प्लेटफार्म नंबर 16 पर ही टूटना शुरू हो गया, जहां मैं दोपहर 2:30 बजे पहुंचा। (यहां से ट्रेन के प्रस्थान का समय 3 बजे था)। ट्रेन दो घंटे देरी से प्लेटफॉर्म पर लगी और ढाई घंटे देरी से, यानी शाम 5:20 बजे रवाना हुई। समय की पाबंदी का तो नामोनिशान ही नहीं था।

इससे भी बुरी बात यह थी कि प्रतीक्षा कर रहे सैकड़ों यात्रियों के साथ कोई जानकारी साझा नहीं की जारी रही थी - बस, थोड़ी-थोड़ी देर में एक उबाऊ घोषणा की जाती थी कि ट्रेन '15 मिनट लेट है'। (यह हमेशा 15 मिनट ही होता था, एक मिनट कम या एक मिनट ज्यादा नहीं)। आज के इस युग में, जब ट्रेनों की वास्तविक स्थिति को पल-पल ट्रैक किया जा सकता है, एयरलाइंस की तर्ज पर किस्तों में देरी की यह घोषणा समझ से परे है। आपने जिन यात्रियों पर भरोसा किया, उनसे यह जानकारी क्यों नहीं साझा की गई? और क्या यह विडंबना नहीं है कि रेल मंत्री ही आईटी मंत्री भी हैं, लेकिन रेलवे को खुद नहीं पता कि उनकी ट्रेनें इस समय कहां हैं?

फंसे हुए यात्रियों के साथ (फिर से, एयरलाइंस के तौर-तरीकों के अनुसार) अन्य तरीकों से भी बेहद बुरा बर्ताव किया गया। उन्हें दो घंटे तक खड़े रहना पड़ा - एक हजार से अधिक यात्रियों के लिए प्लेटफार्म पर मुश्किल से आधा दर्जन गंदी बेंचें थीं; अगर उनमें कोई बूढ़े, बीमार या विकलांग थे, तो उनकी हालत और भी खराब थी; वे देश के विश्वगुरु बनने की यात्रा में एक तरह से सहायक नुकसान थे। जिस प्लेटफार्म पर भारत की (कथित तौर पर) सबसे भव्य ट्रेन आने वाली थी, वह सदर बाजार के किसी व्यापारिक यार्ड जैसा लग रहा था। थोड़ी-थोड़ी देर में कोई पुलिसवाला आकर लोगों को भीड़भाड़ करने के नाम पर भगा देता था! पर, आखिर, वे जाते, तो जाते कहां?

(आखिरकार ट्रेन जब पहुंची) तब अंदर भी हालत कुछ बेहतर नहीं थी: प्रवेश द्वार खाने के डिब्बों, कूड़े के थैलों और पानी की बोतलों से भरा पड़ा था। शौचालय नियाग्रा झरने की तरह पानी से लथपथ थे। खाने में निजीकरण का सबसे बुरा असर साफ दिख रहा था - अज्ञात स्रोत के चूरा के पैकेट, एक शीतल पेय जिसे चाय बताया जा रहा था और केक का एक फफूंदी लगा टुकड़ा; हमने उनके छपे हुए एमआरपी जोड़े, जो 50 रुपये थे, जबकि आईआरसीटीसी ने उन्हें सबसे कम कीमत वाली निविदा प्रक्रिया के जरिये कम-से- कम 25 प्रतिशत कम में प्राप्त किया होगा। हालांकि, यात्रियों ने प्रति व्यक्ति 80 रुपये का भुगतान किया - यह इस बात का एक और प्रमाण है कि रेलवे कितनी तेजी से हवाई जहाज मॉडल की ओर बढ़ रहा है। (जैसा कि दरवाजों के ऊपर लगी एलईडी स्क्रीन पर दिखाया जा रहा था) ट्रेन की अधिकतम गति कभी भी 128 किलोमीटर प्रति घंटे से अधिक नहीं हुई, और वह भी बहुत कम समय के लिए। 180 किलोमीटर प्रति घंटे की उच्च गति के दावे का यही हाल है।

लेकिन वापसी की यात्रा में सबसे बुरा हाल हुआ जब हम रात 11 बजे नई दिल्ली रेलवे स्टेशन पर ट्रेन से उतरे। अजमेरी गेट की तरफ वाले निकास द्वार पर पूरी तरह से अफरा-तफरी मची हुई थी - कारों के लिए कोई उचित लेन नहीं थी, टैक्सियों के लिए कोई अलग लेन नहीं थी, चढ़ने-उतरने के लिए कोई निर्धारित स्थान नहीं थे: ये सभी किसी भी विकसित देश के किसी भी रेलवे स्टेशन पर मानक आवश्यकताएं/सुविधाएं होती हैं।

नतीजा पूरी तरह से अफरा-तफरी का था - सैकड़ों यात्री इधर-उधर भाग रहे थे, अपनी बुक की हुई ओला और उबर कैब ढूंढने के लिए आने-जाने वाला रास्ता जाम कर रहे थे, गाड़ियां बेतरतीब ढंग से खड़ी थीं। हमें अपनी ओला ढूंढने और स्टेशन से बाहर निकलने में 45 मिनट से अधिक समय लग गया (यह कानपुर से ट्रेन से आने के समय का पांचवां हिस्सा था!)।

यह सोचकर ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं कि उन बूढ़े, विकलांग, अकेली यात्रा करने वाली महिलाओं और विदेशी पर्यटकों का क्या हाल होता होगा जो हमारी नौकरशाही से अपरिचित हैं और 'अतिथि देवो भव' की झूठी कहानी पर विश्वास कर बैठे होते होंगे। मुझे शताब्दी युग की याद आती है, जब लोग पुलिस द्वारा संचालित प्रीपेड टैक्सी/ऑटो रिक्शा बूथ पर जाते थे, किराया चुकाते थे और किसी झंझट या दुर्घटना के खतरे के बिना ही टैक्सी/ऑटो मिल जाती थी।

तो असल बात यह है। आज की ये प्रचारित ट्रेनें हमारी पुरानी शताब्दी और राजधानी ट्रेनों से बेहतर नहीं हैं, बल्कि शायद उनसे बदतर ही हैं। उन ट्रेनों ने बड़े-बड़े दावे तो नहीं किए, लेकिन अपने वादे से कहीं बेहतर प्रदर्शन किया। हाई-स्पीड ट्रेनों का ये सारा प्रचार महज झूठा प्रचार है। हमारे पास ऐसी ट्रेनें बनाने की तकनीकी क्षमता तो है, लेकिन उन्हें सही ढंग से चलाने के लिए प्रशासनिक और नीति-निर्माण की क्षमता का अभाव है।

> वंदे भारत ट्रेन लगभग ढाई घंटे लेट थी, पर एक हजार से अधिक यात्रियों के लिए प्लेटफार्म पर मुश्किल से आधा दर्जन गंदी बेंचें थीं। कोढ़ में खाज यह कि थोड़ी-थोड़ी देर में कोई पुलिसवाला आकर लोगों को भीड़भाड़ के नाम पर भगा देता था!

इसकी वजह क्या हैं? बुनियादी ढांचे की कमी: पटरियां, सिग्नलिंग और संचार प्रणाली, कर्मचारियों का कौशल, खानपान, स्टेशन प्रबंधन, जवाबदेही। रेलवे का नियोजन मॉडल दोषपूर्ण है और यह पूरी तरह उलट गया है: ऊपर से नीचे की ओर नियोजन करने के बजाय, इसे उल्टा करना चाहिए - पहले बुनियादी ढांचे को विकसित देशों के स्तर तक उन्नत करना चाहिए और तब ही, उच्च गति वाली ट्रेनें शुरू करनी चाहिए।

और सबसे महत्वपूर्ण बात - रेलवे अपने यात्रियों के साथ सम्मान और सद्भाव से पेश आए। यात्रा केवल गति के बारे में नहीं है, यह विविध अनुभवों का समूह है। रेलवे की जिम्मेदारी केवल प्लेटफार्म तक ही सीमित नहीं है - उसे स्टेशन के अंदर और बाहर- दोनों तरफ उचित बुनियादी ढांचा विकसित करना होगा, ऐसी व्यवस्था सुनिश्चित करनी होगी जिससे यात्री सुविधा और सुरक्षा के साथ व्यवस्थित तरीके से स्टेशन में प्रवेश और निकल सकें। प्रचार कम करें और काम पर ध्यान दें।

मंत्री जी, 2047 तक का सफर बहुत लंबा है - दावोस के लिए सूट पहनकर की जाने वाली साधारण यात्रा से कहीं अधिक कठिन। ■

अभय शुक्ला सेवानिवृत्त आईएएस अधिकारी हैं। यह avayshukla.blogspot.com से लिए उनके लेख का संपादित रूप है

सूचना एवं जनसम्पर्क विभाग, झारखण्ड

अलग कहानी कहते नेपाल और बांग्लादेश

दोनों ही देशों में चुनाव से पहले परिस्थितियां समान और एक जैसे संदर्भ, लेकिन नतीजे विपरीत

सौरभ सेन

फोटो: गेटी इमेजेज

उत्साह नेपाल में समर्थकों का अभिवादन स्वीकार करते काठमांडू के पूर्व मेयर बालेन शाह और आरएसपी के चेयरमैन रबी लामिछाने

बांग्लादेश और नेपाल में जन आंदोलनों का नेतृत्व करने वाले असंगठित युवाओं और छात्रों ने क्रमशः अगस्त 2024 और सितंबर 2025 में स्थापित सरकारों को एक ही तरीके से गिरा जरूर दिया, लेकिन बाद में हुए चुनावों में उनका प्रदर्शन बिल्कुल अलग-अलग रहा।

बांग्लादेश में 12 फरवरी 2026 को हुए चुनाव में नेशनल सिटीजन पार्टी (एनसीपी) को करारी हार का सामना करना पड़ा और उसे महज छह सीटें और तीन प्रतिशत वोट मिले। नेपाल में जुलाई 2022 में गठित राष्ट्रीय स्वतंत्र पार्टी (आरएसपी) को भारी बहुमत मिला, और उसने दो-तिहाई सीटें जीतकर देश को बीते तीन दशक में पहली एक-दलीय सरकार दी। जानकारों का मानना है कि बांग्लादेश में मतदाता युवाओं की अस्थिरता और अनुभवहीनता को लेकर आशंकित थे, जबकि नेपाल में वे आरएसपी को कहीं ज्यादा अनुशासित और सुधारवादी मानते थे।

नेपाल के नतीजे आम लोगों और विशेषज्ञों के लिए समान रूप से चौंकाने वाले रहे। आरएसपी की शानदार जीत में 35 वर्षीय स्ट्रक्चरल इंजीनियर और रैपर से राजनेता बने बलेंद्र 'बालेन' शाह का अहम योगदान रहा। काठमांडू के पूर्व मेयर शाह नेपाल के सबसे युवा प्रधानमंत्री तो हैं ही, मैदानी इलाके मधेस से आने वाले प्रथम प्रधानमंत्री भी होंगे। कई पूर्व प्रधानमंत्रियों की तरह, शाह का भी भारत से रिश्ता है, क्योंकि उन्होंने बेंगलुरु में इंजीनियरिंग की पढ़ाई की है। उन्होंने चार बार के प्रधानमंत्री और सीपीएन-यूएमएल अध्यक्ष के.पी. शर्मा ओली को उनके ही निर्वाचन क्षेत्र झापा-5 में 50,000 मतों के अंतर से हराया।

इन दो लगातार चुनावों की पृष्ठभूमि और परिस्थितियां प्रथम दृष्टया एक जैसी रहीं। दोनों देशों में, भ्रष्टाचार और कुप्रशासन में लिप्त व्यवस्थाओं, आर्थिक गतिरोध और कथित भाई-भतीजावाद के खिलाफ विरोध प्रदर्शन करने के लिए युवा पीढ़ी 'जेन-जी' सड़कों पर उतर आई। नेपाल में, सरकार द्वारा सोशल मीडिया की निगरानी करने के फैसले ने विरोध प्रदर्शनों को जन्म दिया; बांग्लादेश में, सरकारी सेवाओं और शैक्षणिक संस्थानों में आरक्षण के खिलाफ आंदोलन ने छात्रों को सड़कों पर उतारा। हालांकि दोनों ही चुनावों में कुछ हद तक स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनाव हुए, लेकिन नेपाल में तो जेन-जी ने जो कुछ दिखाया वह किसी ऐसे भूकंप की मानिंद रहा, जैसा कई पीढ़ियों में पहली बार देखने को मिलता है। बांग्लादेश ने इसे अपनाया और फैलाया। समान परिस्थितियों के बावजूद, क्या जेन-जी के अलावा कुछ अन्य कारक भी इसमें शामिल थे? यह सवाल है।

*

दशकों तक नेपाल की राजनीति ने सिर्फ तीन दलों का वर्चस्व देखाः नेपाली कांग्रेस (एनसी), सीपीएन-यूएमएल और माओवादी सेंटर। लेकिन इस चुनाव में यह सभी दल पूरी तरह से धराशाई हो गए। शेर बहादुर देउबा और गगन थापा सरीखे दिग्गज नेताओं सहित पारंपरिक दलों के लगभग सभी शीर्ष नेताओं को अपमानजनक हार का सामना करना पड़ा या वे काफी कमजोर दिखाई दिए।

नेपाल के राजनीतिक विश्लेषकों का मानना है कि जेन-जी ने स्थापित राजनीतिक दलों के खिलाफ दशकों से पनप रहे जन आक्रोश को बाहर निकालने के लिए ठीक उसी तरह काम किया जैसे एक सेफ्टी वाल्व करता है। मई 1980 में, लोकतांत्रिक सुधारों की मांग को लेकर हुए व्यापक छात्र प्रदर्शनों और राजनीतिक अशांति के बाद, तत्कालीन राजा बीरेंद्र ने एक राष्ट्रीय जनमत संग्रह कराया, जिसमें मतदाताओं को दल-विहीन पंचायत प्रणाली को बनाए रखने या बहुदलीय प्रणाली अपनाने के बीच चुनाव का विकल्प दिया गया। पंचायत प्रणाली के पक्ष में 54.99 प्रतिशत मत आए और दमन के बावजूद, असहमति बनी रही।

तब से लेकर अब तक नेपाल ने कई राजनीतिक उथल-पुथल देखी हैं। इनमें माओवादी विद्रोह (1996-2006), 2001 का राजमहल नरसंहार और फरवरी 2005 में राजा ज्ञानेंद्र का तख्तापलट शामिल हैं। सितंबर 2025 का जेन-जी विद्रोह इसी क्रम का हिस्सा है। नेपाल के एक ब्लॉगर ने नाम न छापने की शर्त पर कहा, "यह दशकों की राजनीतिक उथल-पुथल ही है जिसने नेपाल के लोगों में विरोध की आवाज बुलंद करने का ऐसा गहन आत्मविश्वास पैदा कर दिया।"

राजशाही समर्थकों और पूर्व माओवादियों सहित हजारों

> बांग्लादेश और नेपाल के हालिया अनुभव से पता चलता है कि युवा नेतृत्व वाले आंदोलनों के जरिये स्थापित सरकारों को गिराना, उन्हें बनाए रखने से कहीं अधिक आसान है

बुजुर्ग प्रदर्शनकारियों ने 8 सितंबर को जेन-जी द्वारा बुलाए गए विरोध प्रदर्शन में घुसपैठ की और इनमें से कुछ ने आगजनी और उपद्रव भी किया। उन्होंने भीड़ को संसद की ओर धकेला, सरकारी कर्मचारियों और मंत्रियों पर हमला किया और सार्वजनिक एवं निजी संपत्ति लूटी। बाकी घटनाक्रम वैसा ही रहा जैसा ऐसे में होता है- पुलिस का दंगाइयों से संघर्ष, गोलीबारी और प्रदर्शनकारियों की मौत, चाहे वह काठमांडू रहा हो या ढाका।

जेन-जी के विरोध प्रदर्शनों के कारणों में से एक ओली सरकार द्वारा सोशल मीडिया प्लेटफॉर्मों पर नियंत्रण वाला कदम था, जिसके तहत सभी प्लेटफॉर्मों को संचार एवं सूचना प्रौद्योगिकी मंत्रालय में पंजीकरण कराना अनिवार्य कर दिया गया था। टिकटॉक और वाइबर को छोड़कर, अधिकांश ने पंजीकरण कराने से इनकार कर दिया। जब मेटा (फेसबुक, इंस्टाग्राम, वाट्सएप), अल्फाबेट (यूट्यूब) और एक्स ने सात दिन की समय सीमा को तवज्जो नहीं दी, तो अधिकारियों ने उन्हें ब्लॉक करना शुरू कर दिया। जैसा कि 'द काठमांडू पोस्ट' ने लिखा, 'नेपाल की डिजिटल रूप से निर्भर जेन-जी के लिए यह आखिरी झटका था।'

नेपाली लोगों के मोबाइल आधारित सोशल मीडिया की ओर भारी संख्या में आकर्षित होने के साथ, आरएसपी ने अपने चुनाव अभियान का अधिकांश हिस्सा सोशल मीडिया के माध्यम से अपने संदेश और नीली घंटी के प्रतीक का प्रचार करके चलाया। इंटरनेट की अच्छी समझ रखने वाली आरएसपी ने एल्गोरिदम, बॉट्स, मुद्रीकृत वेबसाइटों और कंटेंट क्रिएटर्स का जैसा इस्तेमाल किया, उसमें पारंपरिक पार्टियां पिछड़ गईं।

बांग्लादेश में एनसीपी ने अपनी तैयारी से पहले ही राजनीतिक अनुभव हासिल कर लिया। एनसीपी के वरिष्ठ नेताओं ने 'संडे नवजीवन' को बताया कि नेपाल और बांग्लादेश के राजनीतिक संदर्भों में समानता होने के बावजूद, युवा समूहों ने उनसे अलग-अलग तरीकों से जुड़ाव बनाए रखा।

एनसीपी नेता यासिर अराफात ने कहा, "हमने जब एनसीपी बनाई, तो खुद को एक ऐसे दबाव समूह के रूप में देखा जो प्रशासन को महत्वपूर्ण मुद्दों पर जवाब देने को मजबूर करेगा। राजनीतिक दल के रूप में उभरने का निर्णय लेने से पहले हमने आंतरिक तौर पर गहन विचार-विमर्श किया।"

अराफात ने उन अटकलों को खारिज कर दिया कि अंतरिम सरकार में शामिल होना या जमात-ए-इस्लामी के साथ गठबंधन उनकी पार्टी के लिए नुकसानदायक साबित हो सकता है। उनके अनुसार, हालांकि युवा मतदाताओं ने बड़ी संख्या में मतदान किया, लेकिन बांग्लादेश में जेन-जी के समर्थन का मुख्य लाभ बांग्लादेश नेशलिस्ट पार्टी (बीएनपी) को ही मिला।

अराफात ने बताया कि एनसीपी के विपरीत, नेपाल की आरएसपी को राजनीति और शासन का अपेक्षाकृत ज्यादा अनुभव है। नेपाल की युवा पीढ़ी के बीच लोकप्रिय होने से पहले ही, यह पार्टी प्रचंड के नेतृत्व वाली सरकार में गठबंधन सहयोगी के रूप में काम कर चुकी थी और मार्च 2024 से जुलाई 2024 तक चार मंत्रिमंडलीय मंत्रालयों का संचालन कर चुकी थी।

हालांकि जेन-जी वाली इस युवा पीढ़ी ने नेपाली सत्ता प्रतिष्ठान की निष्क्रियता को बड़ी चुनौती दी है, लेकिन कई लोग इसे एक अस्थायी लहर मानते हैं, जो संभवतः आरएसपी के सक्रियता से शासन की ओर बढ़ने और सब कुछ सामान्य होने के साथ ही समाप्त हो जाएगी। वे इस बात पर जोर देते हैं कि नेपाल में बदलाव के प्रतीक बालेन शाह और आरएसपी प्रमुख रवि लामिछाने के बीच की असहज समझ नीति या विचारधारा से ज्यादा तालमेल पर आधारित है।

बांग्लादेश और नेपाल के हालिया अनुभवों से यह भी पता चलता है कि युवा नेतृत्व वाले आंदोलनों के जरिये स्थापित सरकारों को गिराना, सत्ता में आने के बाद उन्हें कायम रखने से कहीं ज्यादा आसान है। अगर राजनीतिक मजबूरियां नीति की जगह ले लें, तो ऐसे आंदोलनों को आसानी से व्यवस्था द्वारा अपने नियंत्रण में लिया जा सकता है। अगर ऐसा हुआ, तो नेपाल में एक बार फिर वही पुरानी स्थिति उत्पन्न हो सकती है, और आरएसपी का भी वही हश्र हो सकता है जो बांग्लादेश में एनसीपी का हुआ था। ■

सौरभ सेन कोलकाता निवासी स्वतंत्र लेखक और राजनीति, मानवाधिकार और विदेश मामलों पर टिप्पणीकार हैं

फोटो: गेटी इमेजेज

असलियत हम भले ही खुद को विश्व गुरु बनने का दावा करें, उस असलियत का क्या करेंगे जो ताकतवर के समक्ष दिखती है

सत्ता का ढोंग और भारत का दब्बूपन

कोई देश कमजोर हो सकता है। लेकिन असली खतरा तब शुरू होता है जब वह कुछ और दिखावा करता है

आकार पटेल

मुझे इस सच्चाई से कोई दिक्कत नहीं है कि एक देश के तौर पर हम अक्सर या हमेशा वह नहीं पा सकते जो हम चाहते हैं। कोई भी देश इस मायने में या कहें कि सही मायने में संप्रभु (सॉवरेन) नहीं है कि वह खुद को और अपनी मर्जी को पूरी तरह से दुनिया पर थोप सके। यह बात इतिहास के सबसे ताकतवर देशों के बारे में भी सच है। अगर यह सच नहीं होता, तो अमेरिका वियतनाम, अफगानिस्तान और इराक में मैदान छोड़कर नहीं भागता, और अब ईरान में हार का सामना नहीं करता। अमेरिका हिंसा के जरिये ईरान को काबू में करना चाहता है और ऐसा नहीं होने वाला है।

हम कोई ताकतवर देश नहीं हैं, इसलिए हमारा रवैया भी उसी हिसाब से होना चाहिए। यह बस सच को वैसे ही मान लेना है जैसा वह है और आईने में यह देखने में कोई शर्म नहीं है कि क्या दिख रहा है। जो तस्वीर सामने आती है, वह एक गरीब आबादी की है, जिसका ज्यादातर हिस्सा मुफ्त अनाज के लिए हर महीने लाइन में लगने को मजबूर है। हम भारतीय संख्या में बहुत ज्यादा हैं, हां, लेकिन इस बड़ी संख्या की ताकत का एहसास कहीं नहीं होता। भविष्य की संभावनाओं में इसका असर हो सकता है, आज की सच्चाई में नहीं।

> हम जो कठोर राष्ट्रवाद का दिखावा करते हैं, वह कमजोर देशों और आम तौर पर हमारे पड़ोसियों के लिए होता है। जहां असली राष्ट्रहित का सवाल आता है, विरोध मुश्किल और मानना आसान होता है, हम अक्सर और शायद आम तौर पर झुक जाते हैं

और इसलिए, नहीं, मुझे यह मानने में कोई दिक्कत नहीं है कि हम मजबूत नहीं हैं और इसलिए हममें काबिलियत की कमी है, और हम मजबूत देशों की तुलना में कम संप्रभु (सॉवरेन) हैं।

लेकिन मुझे एक दिक्कत है, मान लीजिए कि यह एक छोटी सी समस्या है, कि हमारे पास जो सीमित संप्रभुता (लिमिटेड सॉवरेनिटी) है, उसका इस्तेमाल कैसे किया जाता है। हम जो कठोर राष्ट्रवाद का दिखावा करते हैं, वह कमजोर देशों और आमतौर पर हमारे पड़ोसियों के लिए होता है। बड़ी ताकतें, मेरा मतलब है सच में बड़ी ताकतें, न कि इलाके के गुंडे, आईपीएम टीमों को बांग्लादेश से खिलाड़ी चुनने से रोकने में हमारी तरह ऊर्जा खर्च नहीं करतीं। वे खेल के मैदान पर विपक्षी टीम से हाथ मिलाने से मना नहीं करते और नाराज नहीं होते। भारत यही सब करता है, क्योंकि हम यही कर सकते हैं।

जहां असली राष्ट्रहित का सवाल आता है, जहां विरोध करना मुश्किल होता है और मानना आसान होता है, हम अक्सर और शायद आमतौर पर झुक जाते हैं। रूस से तेल मत खरीदो। जी सर। रूस से तेल खरीद लो। ठीक है सर। ईरानी तेल नहीं। जी सर। अमेरिका को अब हमें यह बताने की जरूरत नहीं है कि क्या कहना है और क्या नहीं। हम दिल से जानते हैं कि इस मूर्खतापूर्ण ईरान युद्ध पर सच बोलने से ट्रंप नाराज हो जाएंगे और इसलिए हम मुंह मोड़ लेते हैं क्योंकि अगर हम उनकी आंखों में आंखें डालकर देखेंगे तो वह गुंडा हमें सीधा कर देगा।

सीधे तौर पर यह कहना बुरा लग सकता है, लेकिन हमें खुद को आईने में देखने की कोशिश करनी होगी, भले ही कभी-कभी ही सही। 30 दिन की छूट एक फलों की तरह है, जिस पर हमारे दोषी बाबा हमेशा रहते हैं। हम अप्रैल में फिर से समर्पण कर देंगे और हमें यह मानना होगा।

क्या किसी को लगता है कि चीन, जो भारत की तरह ही बाहरी उर्जा स्त्रोतों पर निर्भर है, उससे इस तरह बात की जा सकती है? बिल्कुल नहीं। ट्रंप तो सख्त और कभी न हंसने वाले, गले न लगने वाले शी से यह कहने के ख्याल से ही कांप उठेंगे।

हमने तो तय किया है कि हम एक देश के मुखिया, एक धर्मगुरु, जिसे लाखों भारतीय अपना धार्मिक नेता मानते थे, उसकी हत्या पर कोई टिप्पणी नहीं करेंगे, हत्या की निंदा या आलोचना करना तो बहुत दूर की बात है। हम मासूम स्कूली लड़कियों की इतनी बड़ी तादाद में हत्या पर दुख नहीं मनाएंगे-जताएंगे। हमने तय किया है कि जब बिना हथियार वाले नाविक, जो कुछ घंटे पहले हमारे खास मेहमान थे, बिना जंग का ऐलान किए अंधेरे में उड़ा दिए जाएंगे, तो किसी और तरफ देखते रहेंगे।

एक बार फिर, मेरे हिसाब से यह सब एक छोटी सी समस्याएं हैं, भले ही मैं किसी भी काम से सहमत न होऊं, क्योंकि मुझे यह समझ में आता है कि हमने एक कमजोर देश के तौर पर नरम रहना चुना है।

लेकिन, हमारे शेखी बघारने और बड़बोलेपन से मुझे वाकई सख्त दिक्कत है। यह बकवास भले ही घरेलू राजनीति में खपती हो, लेकिन दुनिया इसे समझती है। जब हम खुद से कहते हैं कि हम विश्वगुरु हैं और जी20 के मुखिया हैं और दूसरी कपोल कल्पनाएं करते हैं, तो उम्मीद है कि हम ऐसा सिर्फ इस यकीन में कर रहे हैं कि भारतीय लोग सीधे-सादे और अनजान लोग हैं और ऐसी बकवास पर यकीन करते हैं। अगर हम ऐसा करते हैं तो यह बहुत खतरनाक बात होगी क्योंकि सरकार असल में ऐसा मानती है, लेकिन खुशी की बात है कि हम यह बात जानते हैं कि सरकार और यह प्रधानमंत्री ऐसा नहीं मानते। हम यह इसलिए जानते हैं क्योंकि बड़ी ताकतों से निपटने में हमारी कायरता दिखती है। दूसरों के साथ हमारे काम, खुद से कही गई बातों से ज्यादा असरदार होते हैं।

मैं उन भारतीयों में से हूं जो इश्तिहारों, होर्डिंग्स और टेलीविजन पर हमारी महानता के बारे में छपे झूठ पर यकीन नहीं करते, इसलिए मुझे यह बात परेशान करती है कि हम ऐसा करते हैं। लेकिन मुझे यह दिक्कत वाली बात भी लगती है और इसीलिए मेरी राय में यह एक बड़ी समस्या है। लोकतांत्रिक सरकारों से उम्मीद की जाती है कि वे अपने मतदाताओं के साथ ईमानदार रहें, न सिर्फ मूल्यों और नैतिकता के साफ कारणों से, बल्कि इसलिए भी क्योंकि इससे सरकार का काम आसान हो जाता है।

भारतीय जनता पार्टी को यह समझाने के लिए खुद को उलझाने की जरूरत नहीं पड़ती कि हमारा समर्पण असल में समर्पण क्यों नहीं है और 30 दिन की छूट मिलना असल में एक कूटनीतिक जीत क्यों है, बशर्ते वह यह बताती कि हमें क्या-क्या झेलना पड़ा।

दुनिया भर में हमारे जो भी दोस्त बचे हैं, ईरान सहित, वे समझ जाएंगे कि हमने उनका साथ इसलिए नहीं छोड़ा क्योंकि हम उनके साथ हो रही घटनाओं से सहमत हैं—क्योंकि हम उससे बिल्कुल सहमत नहीं हैं। असली वजह यह है कि हममें साहस की कमी है। इससे शायद हम करोड़ों लोगों को उस कड़वी सच्चाई का सामना करने से बचा सकेंगे कि अमेरिका के एक ही हमले से हमारी 'दुनिया की बड़ी ताकत' या विश्वगुरु वाली छवि टूट सकती है। ■

अंग्रेजों की गुलामी गुलामी नहीं थी क्या?

बदलने की मुहिम के बावजूद वे कैसे कायम रह गए जिनके नाम सिर्फ दमन की दास्तानें हैं

कृष्ण प्रताप सिंह

अनेक अच्छे-बुरे कारणों से अरसे तक सुर्खियों में रहती आई और अब उनसे लगभग बाहर अयोध्या की बाबत यह सब जानकर शायद आपको क्षोभ भी हो और आश्चर्य भी। लेकिन न जानने के अंदेशे ज्यादा बड़े हैं, इसलिए बता रहे हैं।

इस नगरी के उस हिस्से में, जिसका नाम पहले फैजाबाद होता था, ऐतिहासिक चौक से सटा हुआ एक मुहल्ला है रीडगंज। यह नाम 1857 के स्वतंत्रता संग्राम की विफलता के बाद तत्कालीन फैजाबाद जिले के कलेक्टर बने ईस्ट इंडिया कंपनी के फौजी अफसर चार्ल्स रीड के नाम पर रखा गया था।

प्रसंगवश, इस संग्राम में बागी देसी सेनाओं ने देश के तत्कालीन मुगल बादशाह बहादुरशाह जफर के नेतृत्व में अंग्रेजों को खदेड़कर दिल्ली को कंपनी से मुक्त करा लिया, तो चार्ल्स रीड ने उस पर दोबारा कब्जे के उसके सैन्य अभियान की सफलता में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी।

बाद में इंग्लैंड की तत्कालीन महारानी विक्टोरिया ने भारत की सत्ता कंपनी से अपने हाथ में ले ली तो रीड को फैजाबाद का कलक्टर नियुक्त कर '1857 की अशांति का शमन' करने और उन वायदों को निभाने की जिम्मेदारी सौंपी, जो उन्होंने 'करुणा की देवी' बनकर अपने घोषणा-पत्र में 'प्यारी भारतीय प्रजा' से किए थे।

महारानी के इस 'पुरस्कार' को लेकर उनके कृतज्ञ रीड ने अपनी कलेक्टरी के दौरान उनकी आंखों में चढ़ने के लिए ब्रिटिश सत्ता और भारतीय प्रजा (खासकर उसके प्रभुवर्ग) के बीच की तल्खियां खत्म करने के कई कदम उठाए। उसके नाम पर रीडगंज का नामकरण भी, कहते हैं उसकी सेवाओं का अंग्रेजभक्तों द्वारा दिया गया पुरस्कार ही था। फैजाबाद में रीडगंज रेलवे स्टेशन भी था, जिसे आजादी के बाद 1971 में आचार्य नरेन्द्रदेव का नाम दे दिया गया। अब यह स्टेशन तो नहीं रहा, लेकिन रीडगंज मुहल्ले का नाम जस का तस है। दावा यह भी है कि रेलवे स्टेशन से रीड का नाम हटा तो मुहल्ले के नाम से भी हटाने की बात थी।

लेकिन वह बात बात ही रह गई। आज की बात करें तो यह कोई इकलौती मिसाल नहीं है। भाजपा की नरेंद्र मोदी और योगी आदित्यनाथ सरकारों के अयोध्या को नाम बदलने के लंबे सिलसिले से गुजारकर 'भव्य', 'दिव्य' और 'नव्य' बनाने की डींगों के बीच भी उसमें ऐतिहासिक इमारतों, मुहल्लों/गांवों और ब्लॉकों आदि के ऐसे अनेक नाम चले आ रहे हैं, जो अंग्रेजों के ऐसे सैनिक/असैनिक अफसरों के नामों पर हैं, जिन्होंने देश के स्वतंत्रता संग्राम के निर्मम दमन में कुछ भी उठा नहीं रखा और जिसने भी उनके खिलाफ आवाज उठाई, उस पर भरपूर जोर-जुल्म किए।

रीडगंज मुहल्ले में ही एक अन्य अंग्रेज कलक्टर फार्ब्स के नाम पर एक इंटर कालेज भी है। कुछ साल पहले तक एक और कलक्टर होबर्ट के नाम की लाइब्रेरी भी थी। अब नहीं है तो इसलिए नहीं कि उसके नाम से होबर्ट का नाम हट गया, बल्कि इसलिए कि उसके जर्जर भवन ने उसका अस्तित्व ही खत्म करा दिया।

रवैया नाम बदलते रहने वाले सत्ताधीश लोगों की मांग के बावजूद कूड़ेभार नाम बदलने को तैयार नहीं

दरअसल, 1963 तक अयोध्या में महारानी विक्टोरिया के नाम का एक पार्क हुआ करता था, जिसमें उनकी एक प्रतिमा भी थी। गुलामी के वक्त जो लोग उधर से गुजरते, प्रतिमा के प्रति सम्मान जताना 'कर्तव्य' माना जाता और ऐसा न करना सजा या जुर्माने का कारण बनता। फैजाबाद की पुलिस लाइन में भी उनकी प्रतिमा थी, जबकि चौक स्थित वह घंटाघर भी उनकी याद दिलाता था, जिसे 1857 में अंग्रेजों की विजय की याद में एक अंग्रेजभक्त राजा ने बनवाया था। महारानी विक्टोरिया ने खुद इस घंटाघर के लिए एक विशाल घड़ी उपहार में भिजवाई थी।

दिसंबर, 1963 में एक महिला समाजसेवी की पहल पर विक्टोरिया पार्क का नाम 'तुलसी उद्यान' रख दिया गया और उत्तर प्रदेश के तत्कालीन राज्यपाल विश्वनाथ दास ने उसमें तुलसीदास की प्रतिमा का अनावरण करके नए नाम को अतिरिक्त वैधता दी। पुलिस लाइन वाली विक्टोरिया की प्रतिमा भी हटा दी गई। लेकिन तब इसे देर से उठा कदम बताकर नाक-भौं सिकोड़ने वालों के राज में हालत यह है कि चौक स्थित घंटाघर में लगी महारानी विक्टोरिया प्रदत्त घड़ी की सुइयां अरसा पहले बंद हो जाने के बावजूद घड़ी बरकरार है।

विलियम शेक्सपीयर ने भले ही कह रखा हो कि नाम में क्या रखा है, उनके देश के अंग्रेज शासकों ने भारत में अपने नाम अमर करने के लिए विभिन्न संस्थाओं, संस्थानों व मार्गों

> 'कू-ए-बहार' नाम लोगों की जुबान पर नहीं चढ़ा और जल्द ही 'कूड़ेभार' हो गया। अयोध्या के पड़ोस में कूड़ेभार कस्बा भी है और रेलवे स्टेशन भी। लोग कहते हैं कि कूड़ेभार नाम सुनने में ही खराब लगता है, सो उसे बदल दिया जाए। लेकिन ऐसी मांग से सत्ताधीशों को कोई फर्क नहीं पड़ता

वगैरह के नामों से जोड़ने में कतई गुरेज नहीं किया।

उस दौर में अपनी राजभक्ति और स्वामिभक्ति प्रदर्शन के इच्छुक देसी राजाओं, तालुकदारों, जमींदारों, रायबहादुरों और कंपनी बहादुरों में तो अंग्रेज अफसरों को खुश करने वाले नामकरणों के प्रस्ताव लाने की होड़-सी रहती थी। ऐसी ही होड़ के तहत कुछ स्वामिभक्तों ने फैजाबाद में लायड की कलक्टरी के वक्त उसकी चापलूसी में चौक के एक दरवाजे का नाम लायड गेट रख दिया था। हालांकि यह गेट नवाब शुजाउद्दौला के वक्त बना था। गेट का यह नाम भी अब तक कायम है, और नाम बदलने के हिन्दुत्ववादी उस्तादों को कतई नहीं अखरता।

हां, जो नाम उनको अखरते थे, उन्हें उन्होंने जरूरी और गैरजरूरी का भेद किए बिना ही मिटा दिया है और बहुत खुश हैं। फैजाबाद नाम तो उन्होंने इसके बावजूद हटाया कि उसकी जो भी लाग-डांट थी, दिल्ली से थी, अयोध्या से नहीं। जन्मकाल में काफी अंतर के बावजूद लोग अयोध्या और फैजाबाद को 'जुड़वां शहर' कहते थे। फैजाबाद मंडल मुख्यालय भी था, जिला भी और शहर भी और उसके साथ कोई तथाकथित सांप्रदायिक कोण भी नहीं जुड़ा था।

यों, फैजाबाद के बारे में कहा जाता है कि बाप (नवाब शुजाउद्दौला) द्वारा उसे बसाने और अवध की राजधानी बनाने के कुछ ही वर्षों बाद बेटे (नवाब आसफउद्दौला) ने अपनी बारी पर राजधानी लखनऊ स्थानांतरित करके उसे उजाड़ दिया था। लेकिन भाजपा सत्ता में आई और योगी आदित्यनाथ मुख्यमंत्री बने तो उनसे यह उजाड़ भी बर्दाश्त नहीं हुआ। उनकी सरकार ने उसको अयोध्या नगर निगम का अनाम-सा हिस्सा बना डाला। नवाबों के काल की उसकी दूसरी कई निशानियों की पहचान भी बदल दी।

शुजाउद्दौला के सपनों के महल दिलकुशा को भी दिलकुशा नहीं रहने दिया, साकेत सदन कर दिया। नतीजतन शुजाउद्दौला और उनकी बहू-बेगम के मकबरे ही इस शहर में उनकी उल्लेखनीय 'अमानत' रह गए हैं। वह भी इस मजबूरी से कि मकबरों को उन्हीं का कहा जा सकता है, जो उनमें दफन हों।

राममंदिर के दर्शनार्थियों, श्रद्धालुओं और पर्यटकों के हुजूम की सुविधाओं के नाम पर अयोध्या की सड़कें चौड़ी करने के लिए पिछले सालों में जो व्यापक तोड़फोड़ हुई और जिससे जुड़ी दुर्घटनाओं में कई निर्दोषों की जानें भी गईं, कहते हैं कि उसका एक प्रच्छन्न प्रयोजन भी अयोध्या को नवाबकालीन पहचान से, जो उनकी निगाह में 'गुलामी की निशानी' थी, उससे परे करना ही था।

लेकिन उनका दुर्भाग्य कि इस सबको लेकर सवाल उठने अब भी बंद नहीं हुए हैं। अयोध्या के सुर्खियों में न रह जाने के बावजूद कभी न कभी कोई न कोई पूछ ही लेता है कि क्या उन्हें अंग्रेजों की गुलामी गुलामी नहीं लगती? लगती है तो वे उनके नामों और निशानियों को लेकर इतने सहिष्णु क्यों हैं? समाजवादी विचार मंच के उत्तर प्रदेश संयोजक अशोक श्रीवास्तव तो इससे आगे का भी एक सवाल पूछते हैंः क्या इसलिए नहीं लगती कि उनके पुरखे अंग्रेजों का हुक्का भरा करते थे?

श्रीवास्तव के अनुसार, इससे भी बड़ी विडंबना यह है कि हिन्दुत्ववादी सत्ताधीश गुलामी की निशानियों की अपनी परिभाषा को लेकर भी ईमानदार नहीं हैं। इसकी एक मिसाल अवध के सूबेदार बुरहान-उल-मुल्क सआदत अली खान प्रथम (जिन्होंने 26 जनवरी, 1722 से 19 मार्च, 1739 तक सूबे की सत्ता संभाली) द्वारा दी गई 'कू-ए-बहार' की निशानी भी है।

उनके अनुसार सआदत अली प्रथम मय लाव-लश्कर इलाहाबाद से फैजाबाद आ रहे थे तो उनके इंतजामकारों ने रास्ते में उनके रात्रिविश्राम के लिए जो अनाम-सी जगह चुनी, प्राकृतिक सुषमा से भरपूर उसके सुरम्य बाग और लंबे-चौड़े साफ-सुथरे मैदान में सुखपूर्वक रात बिताकर वे इतने खुश हुए कि सुबह कहे बिना नहीं रह पाए कि 'यह तो कू-ए-बहार (बहार की गली) है, भाई। खूब गहरी नींद सोया मैं।'

फिर क्या था, इंतजामकारों ने उस जगह का नाम 'कू-ए-बहार' ही रख दिया। लेकिन नाम लोगों की जुबान पर नहीं चढ़ा और कुछ ही दिनों में यह 'कू-ए-बहार', 'कूड़ेभार' में तब्दील हो गया। अयोध्या के पड़ोसी जिले सुल्तानपुर में स्थित कूड़ेभार अब कस्बा भी है और रेलवे स्टेशन भी। वहां के लोग चाहते हैं कि कूड़ेभार नाम सुनने में बहुत खराब लगता है, इसलिए उसे बदल दिया जाए। वे इसके लिए आवाज भी उठाते रहते हैं, लेकिन सत्ताधीशों को कोई फर्क नहीं पड़ता। ■

आजाद राष्ट्र-राज्य हैं, तो ईरान पर चुप्पी क्यों

इन्हें कौन चला रहा है? कौन निर्णय करवाता है? ये सबसे बड़े सवाल हैं। इनसे बचा नहीं जा सकता

मीनाक्षी नटराजन

ईरान पर हमला जारी है। छोटी मासूम बच्चियों के खून से मानवता स्याह पड़ गई। फिर भी किसी आजाद राष्ट्र-राज्य ने ऊफ तक नहीं की है। उन्हें आजाद कहते-मानते हुए भी जुबान कांपती है।

हमारे हुक्मरान भी किस पक्ष में खड़े रहे, सब जानते हैं। यह सब क्या दर्शाता है? आखिर, इन सब राष्ट्र-राज्यों को कौन चला रहा है? कौन इनके भीतर निर्णय करवाता है? यह इस सदी का सबसे बड़ा सवाल है। इस सवाल से बचा नहीं जा सकता।

सोवियत रूस के विखंडन के बाद विचार आधारित राष्ट्र-राज्य का अस्तित्व धीरे-धीरे सिमटने लगा। उसी दौर में सत्ता हस्तांतरण की पहल हमारे देश में हुई। संविधान पर आधारित बहुविध देश को समता बंधुता न्याय आजादी के विचार पर टिके राष्ट्र राज्य के रूप में पोषित करना मकसद था, ताकि दुनिया के किसी कोने में तो वैचारिक संप्रभुता संपन्न राष्ट्र-राज्य की कल्पना रहे।

थोड़ा इतिहास टटोलें तो राष्ट्र-राज्य की अवधारणा पूरे विश्व में दूसरे महायुद्ध के बाद फैली। कुछ वर्षों तक बरकरार रही। इन आधुनिक राष्ट्र-राज्यों में कुछ बुनियादी ढांचे हैं- भौगोलिक सीमा, मुद्रा, कर प्रणाली, रक्षा नीति, नागरिक हक, सामरिक रिश्ते और राष्ट्रों की स्वायत्त सोहबत जिसे संयुक्त राष्ट्र कहते हैं। इन राष्ट्र-राज्यों में यह समानता थी। पर ध्रुवीकरण भी था। एक तरफ मुक्त बाजार, खुले चुनाव, चयन का हक लोकतंत्र, आस्था की निरपेक्षता प्रबल रही। दूसरी तरफ राज्य संरक्षित निश्चित कार्यक्रम, नियंत्रित नागरिक बाजार व्यवस्था रही। यह सही है कि इस दूसरी व्यवस्था में एकाधिपत्य को बहुत बढ़ावा मिला, राज्य संरक्षित व्यवस्था नियंत्रण में बदलने लगी, बड़े केन्द्रीकृत ढांचे जन अपेक्षा की अभिव्यक्ति को तिरोहित करते, कसमसाहट बढ़ने लगी और बाजार आधारित मुक्त व्यवस्था का पलड़ा भारी पड़ता गया। अमेरिकी दखल ने संकट को और गहरा किया। रूस का दबदबा दरदरा गया।

मगर विमुक्त राष्ट्र-राज्य जो इससे खुश हुए, वे यह नहीं समझ पाए कि अगली बारी उनकी होगी। आज वैश्वीकरण ने इतनी चुनौतियां पैदा कर दी हैं कि राष्ट्र-राज्य का शायद ही कोई भविष्य बचा है। आज फेसबुक, गूगल सबसे बड़े राष्ट्रों में से हैं। बाजार सबसे ताकतवर मुल्क है। उसके प्रति आस्था इतनी फैली है कि वह सबसे बड़ा मजहब है। इंटरनेट ने नागरिकता को हाशिये पर खड़ा कर दिया है। कोई व्यक्ति भारत में रहता है, किसी अन्य राष्ट्र की कंपनी के लिए काम करता है, वह कंपनी किसी और मुल्क की सरजमी पर है, तो अब इस व्यक्ति पर किस मुल्क की कर प्रणाली, श्रम कानून लागू होगा। कौन-सी न्याय व्यवस्था पर वह निर्भर होगा? कहां हक जता सकेगा? इस बाजार आधारित दुनिया में राष्ट्र-राज्यों की संप्रभुता, उनका अधिकार कहा रहा?

बाजार, नेट, कृत्रिम होशियारी अब इतने शक्तिशाली हैं कि वे राष्ट्र-राज्यों को चलाते हैं। आर्थिक सत्ता उनके पास है। उससे ही वे हर राष्ट्र के चुनाव की परिणति तय करते हैं। तथाकथित आधुनिक औपचारिक शिक्षा, स्वास्थ्य व्यवस्था, राजनीतिक दलों की स्थिति के सूत्र उनके हाथों में हैं। वे सरकार का एजेंडा चलाते हैं। जाहिर है, वे एजेंडा केवल उनके लाभांश को और बढ़ाने के लिए समर्पित होते हैं।

इन सब के चलते राष्ट्र-राज्यों की राजनीति बुनियादी तौर पर बदली है। दक्षिणपंथी संकुचित राजसत्ता के प्रतिनिधियों को इसमें संभावना दिखाई देती है। अब बाजार आधारित समाज रचना में उन्हें कुछ बहुत करना नहीं पड़ता। प्रचार माध्यमों को बाजार के सबसे बड़े पूंजीपति के नियंत्रण में लाना है। बाकी सब व्यवस्था अपनेआप हो जाती है। इन पूंजीपतियों के साथ गठजोड़ बनाते हैं कि राष्ट्र मात्र संसाधन के कब्जे का अस्त्र बनकर रहे। आज वही हो रहा है। नागरिक महज तमाशबीन हो जाते हैं। समाचार मनोरंजन हो जाता है। बाजार पर कुछ लोगों की मालिकी है, एकाधिपत्य है। वे ही अब सारी राजनीति समाज रचना और अर्थव्यवस्था को संचालित करते हैं।

जब उन्हीं की दया से चुनाव लड़ा और जीता जाएगा, तो शासन में रहकर उनके लिए कब्जे की नई-नई जगह

फोटो: गेटी इमेजेज

स्पष्ट हवाई हमले में जलता तेहरान का तेल डिपो गवाह है कि राष्ट्र-राज्यों को कौन चला रहा है

> बड़े केन्द्रीकृत ढांचे बेमानी हैं। दुनिया एक गांव-सी नजदीक आ जाए, मगर इंसान को असंवेदनशील न बनाए। राष्ट्र-राज्य का एक ही नव संस्करण संभव है। वह हस्तांतरित सत्ता संरचना जहां सत्ता केन्द्र से नहीं बल्कि गांव-गांव से संचारित हो

तलाशनी पड़ेगी। सो ग्रीनलैंड, वेनेजुएला, कनाडा, भारत के भीतर बस्तर, कश्मीर, सिंगरौली के जंगल यह कहकर बेशर्मी से हड़पने की पेशकश होती है कि बस हमको चाहिए। कम-से-कम इसके पहले इतनी बेबाक हड़प नहीं होती थी।

यह भी लगता है कि क्या यह राष्ट्र-राज्यों के नियंत्रणवादी दलों का आखिरी प्रतिरोध है, ताकि राष्ट्र-राज्य बचे। इसलिए नहीं कि उस व्यवस्था के जरिये हाशिये पर खड़े वर्ग को संरक्षित किया जा सके, उनको हक मिल सके, वरन इसलिए कि संसाधन पर सुनिश्चित कब्जा बरकरार रहे। पर हर आधिपत्य को चुनौती मिलती ही है। कृत्रिम होशियारी सब कुछ नेस्तनाबूद करने वाली है। अब एक तरह से केवल हाथ से काम करने वाले ही प्रासंगिक रह जाएंगे। तथाकथित दिमागी काम कहीं और होने लगेगा। तब राष्ट्र-राज्य की क्या स्थिति होगी? क्रीप्टो मुद्रा के आने के बाद सबसे अंतिम व्यक्ति का क्या होने वाला है? हथियारों के उत्पादक जब हर राष्ट्र से सौदा करेंगे तो कौन प्रभावित होंगे? इन सब नियंत्रण वादी व्यवस्था के बीच जो पर्यावरण का क्षय हुआ है, उसकी तो अभी कल्पना भी नहीं है।

तब सोचना होगा कि पूरी दुनिया क्या फिर एक बदलाव की कगार पर है। क्या विकास, राष्ट्र-राज्य, बेलगाम और हताश कर देने वाली कृत्रिम होशियारी, खुले बाजार पर पुनर्विचार की जरूरत नहीं है। यदि यह नहीं हुआ तो राह भी नहीं मिलेगी।

हिन्द स्वराज में एक दर्शन है, जो करीबन सदी पहले लिखा गया। इस सवाल के साथ कि हर व्यवस्था की कसौटी आजादी होनी चाहिए - हम इंसान के तौर पर कितने गुलाम या कितने आजाद हैं? मगर हमें यह बहुत गैर व्यावहारिक लगता है जबकि गुलामी से निकलने का यह एकमात्र मार्ग है - एक ऐसी व्यवस्था का विकल्प तैयार करना जिसमें मजबूर होकर खुद को बाजार के हवाले नहीं करना पड़ता, वरना राष्ट्र-राज्य और नागरिकता की प्रासंगिकता को कायम रख पाना कठिन होगा। राष्ट्र-राज्य और विकास के मौजूदा स्वरूप का विकल्प खोजना इस सदी का सबसे बड़ा काम होगा। हिन्द स्वराज के हस्तांतरित सत्ता संरचना, शारीरिक ऊर्जा और संसाधनों का सम वितरण ही नई किरण है।

बड़े केन्द्रीकृत ढांचे बेमानी है। दुनिया एक गांव-सी नजदीक आ जाए, मगर इंसान को असंवेदनशील न बनाए। सजग बनाए और हर प्रकार के प्राधान्य से मुक्त करे। इसको कुबूलने के लिए बड़ी हिम्मत चाहिए। वह एक ही नेतृत्व में दिखाई देता है। उसकी अभयता कोई प्रदर्शन नहीं। अभय का प्रदर्शन हो भी नहीं सकता। राष्ट्र-राज्य का एक ही नव संस्करण संभव है। वह हस्तांतरित सत्ता संरचना है जहां सत्ता केन्द्र से नहीं बल्कि गांव-गांव से संचारित हो। ■

Published Date 15 March, 2026 (Sunday), Posted at LPC Delhi RMS, Delhi-06, Posting Days Friday and Saturday

दीमक हैं, तब ही है मिट्टी जिंदा

हम शहरों में इसे दूर रखने के लिए भले ही कीटनाशकों का उपयोग करें, खेती और पर्यावरण के लिए ये अत्यंत जरूरी

पंकज चतुर्वेदी

कंधमाल जिले को ओडिशा का कश्मीर कहते हैं। यहां के दरीनगबाड़ी के किसानों की चिंता है कि उनके खेत-जंगलों से 'ऊई हुंका' गायब होते जा रहे हैं। ऊई हुंका मतलब दीमक की बांबियां। पूरे देश के शहरी इलाकों में रहने वाले हम-आप दीमकों से निजात के लिए रासायनिक कीटनाशकों और दीमकनाशकों का अंधाधुंध प्रयोग करने वाली तरह-तरह की एजेंसियों की सेवाओं पर खर्च करते रहते हैं। लेकिन जंगल-खेत के लोग जानते हैं कि दीमकों के गायब होने से न केवल मिट्टी की उपजाऊ शक्ति प्रभावित होती है बल्कि यह प्राकृतिक तौर पर जमीन से पानी खींचने वाली प्रणाली को भी कमजोर कर सकता है। कंधमाल जिले में मुख्य रूप से कांध जनजाति निवास करती है, जिसमें कुटिया कंधा और डोंगरिया कंधा तो विशेष रूप से कमजोर जनजातीय समूह (पीवीटीजी) उप-समूह शामिल हैं। इनका मुख्य व्यवसाय जैविक हल्दी की खेती और जंगली उत्पादों - जैसे महुआ, शहद और इमली - को इकट्ठा कर बेचना है। आदिवासी मानते हैं कि ऊई हुंका कम हो जाने या लुप्त होने का मतलब है कि धरती संकट में हैं। ओडिशा के बालासोर में तो 30 फुट ऊंची बांबी पर बाकायदा मेला लगता है।

दीमक की बस्ती, मतलब ऊंचे-ऊंचे टीलों को जंगल के निवासी बहुत पवित्र मानते हैं। ये दरीनगबाड़ी के जंगलों से धीरे-धीरे गायब हो रहे हैं। इसकी मुख्य वजह हैः जलवायु परिवर्तन और बड़े पैमाने पर वनों की कटाई। दरीनगबाड़ी पहाड़ों और घने जंगलों से घिरा है और यह इलाका नदियों, धाराओं, विविध वनस्पतियों और सैकड़ों औषधीय पौधों की प्रजातियों से समृद्ध है। पहले तो इन जंगलों में अनेक दीमक के टीले बने रहते थे, लेकिन हाल के वर्षों में इनकी संख्या काफी घट गई है।

दीमक के टीलों की संरचना प्रकृति के सबसे विस्मयकारी चमत्कारों में से एक है। इसे अगर 'कीटों द्वारा निर्मित वास्तुकला का शिखर' कहा जाए, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। बाहर से मिट्टी का एक बेजान ढेर दिखने वाला यह टीला भीतर से एक आधुनिक महानगर की तरह व्यवस्थित और तकनीकी रूप से उन्नत होता है। टीले की बनावट ऐसी होती है कि बाहर चाहे कितनी भी चिलचिलाती धूप या ठंड हो, उसके भीतर का तापमान हमेशा स्थिर रहता है। दीमक अपनी बांबी को इस तरह डिजाइन करते हैं कि उसमें 'नैचुरल वेंटिलेशन', यानी प्राकृतिक वायु-संचार होता रहे। टीले के भीतर कई महीन छेद और ऊर्ध्वाधर नलिकाएं होती हैं। गर्म हवा ऊपर की ओर उठकर टीले के ऊपरी छिद्रों से बाहर निकल जाती है, जबकि ठंडी और ताजी हवा नीचे के रास्तों से अंदर आती है। यह बिल्कुल वैसा ही है जैसे किसी आधुनिक इमारत में 'सेंट्रल एयर कंडीशनिंग' काम करती है।

दीमक-समाज में कार्य-विभाजन स्पष्ट है। रानी दीमक पूरे कुनबे की जननी होती है। रानी दीमक का आकार अन्य दीमकों की तुलना में बहुत बड़ा (कई सेंटीमीटर लंबा) हो सकता है। उसका मुख्य काम केवल अंडे देना है। एक स्वस्थ रानी एक दिन में 20,000 से 30,000 अंडे तक दे सकती है। रानी दीमक का जीवनकाल भी काफी लंबा- 15 से 25 वर्षों तक हो सकता है। अक्सर आदिवासी इनका शिकार कर भून कर खाते हैं। वहीं राजा पूरी उम्र रानी के साथ रहता है और प्रजनन प्रक्रिया में सहयोग करता है। श्रमिक दीमक टीले की सबसे बड़ी आबादी होते हैं। इनका काम भोजन जुटाना, टीले की मरम्मत करना, रानी और बच्चों (लार्वा) की देखभाल करना और 'फंगस गार्डन' (कवक के बगीचे) की खेती करना है। फिर आते हैं सैनिक दीमक जिनके सिर बड़े और जबड़े मजबूत होते हैं। इनका एकमात्र काम टीले की रक्षा करना है - विशेषकर चींटियों जैसे दुश्मनों से।

टीले के सबसे सुरक्षित हिस्से में रानी का कक्ष होता है। इसके अलावा, टीले के भीतर 'फंगस गार्डन' होते हैं। दीमक चबाए हुए लकड़ी के बुरादे पर एक विशेष प्रकार की फंगस उगाते हैं। यह फंगस लकड़ी के जटिल रेशों को तोड़कर उसे सुपाच्य बनाती है, जिसे दीमक खाते हैं। यह एक तरह की 'इनडोर फार्मिंग' है जिसे दीमक लाखों सालों से कर रहे हैं।

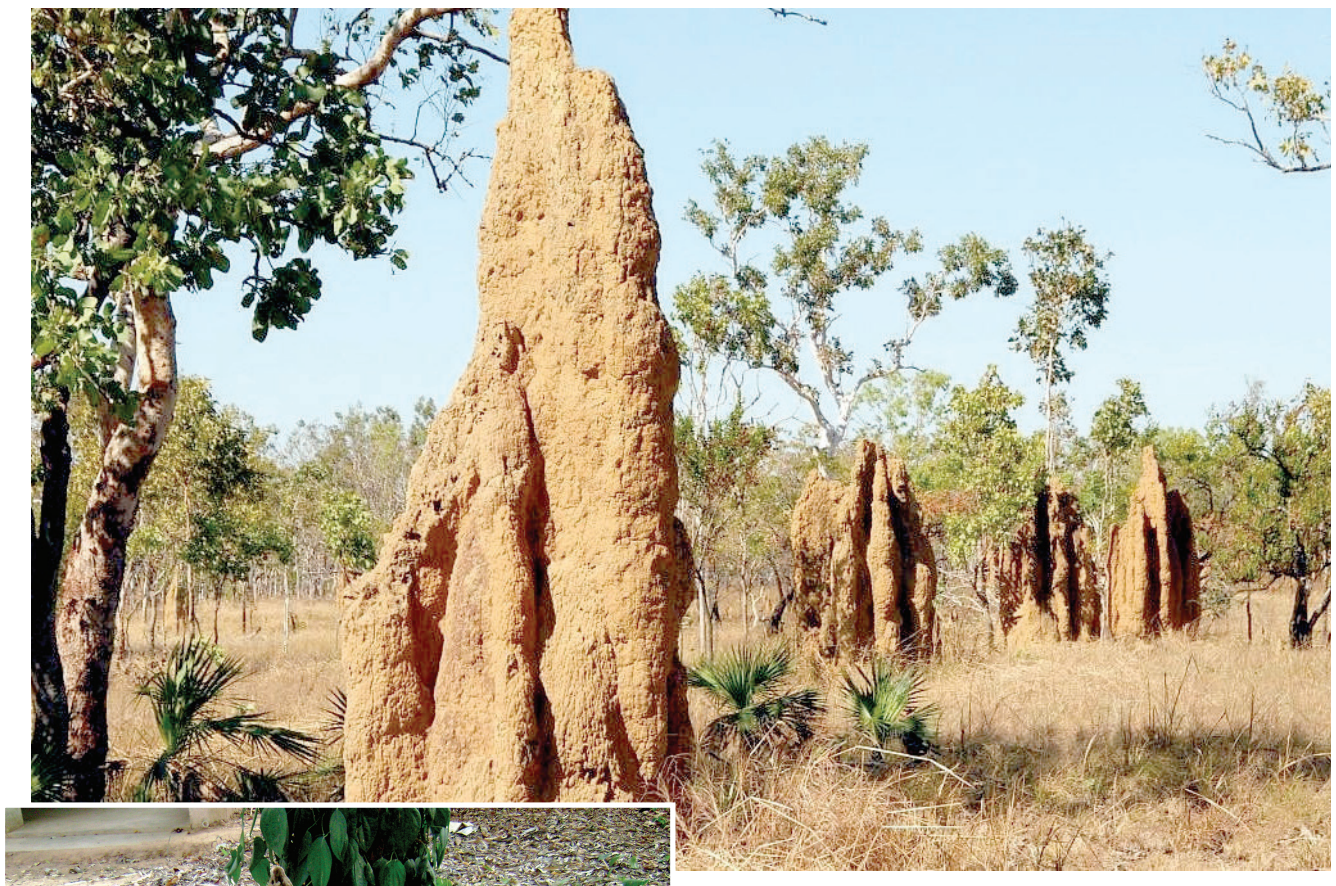

फोटो: पंकज चतुर्वेदी

शहरी लोगों की नजर में दीमक की नकारात्मक छवि रही है लेकिन उसकी यह रचना किसी तकनीक समृद्ध शिल्प से कम नहीं है

दीमक के टीलों की संरचना प्रकृति के सबसे विस्मयकारी चमत्कारों में से एक है। इसे अगर 'कीटों द्वारा निर्मित वास्तुकला का शिखर' कहा जाए, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। बाहर से मिट्टी का बेजान ढेर दिखने वाला यह टीला भीतर से किसी आधुनिक महानगर जैसा उन्नत होता है

दीमक अपने टीले बनाने के लिए मिट्टी, अपने मल और लार के मिश्रण का उपयोग करते हैं। सूखने के बाद यह मिश्रण कंक्रीट जैसा मजबूत हो जाता है, जिसे हाथ से तोड़ना भी मुश्किल होता है। यह मजबूती ही उन्हें बारिश और शिकारियों से सुरक्षा प्रदान करती है। कुछ टीले पांच से छह फुट तक ऊंचे हो जाते हैं। दीमक का टीला केवल रहने की जगह नहीं, बल्कि एक जीवित मशीन है जो नमी, ऑक्सीजन और भोजन का संतुलन बनाए रखती है। पतझड़ के बाद दीमक तेजी से पत्ते खाकर कुछ ही दिनों में उसे उन्नत मिट्टी की ऊपरी परत में बदल देती हैं जिस पर खेती कर आदिवासी अपना जीवन-यापन करते हैं।

हम शहरी लोगों की नजर में, दीमक का अस्तित्व केवल एक विनाशकारी कीट का है, जो चुपचाप लकड़ी के फर्नीचर या कृषि की खड़ी फसलों को चट कर जाता है। 'दीमक की तरह चाटना' मुहावरा भी विनाश और क्षरण का ही प्रतीक बन चुका है। लेकिन प्रकृति के विशाल कैनवास पर दीमक ऐसा 'मूक इंजीनियर' है, जिसके बिना जंगलों का अस्तित्व खतरे में पड़ सकता है और हमारी खेती की मिट्टी बेजान हो सकती है।

दीमक का सबसे महत्वपूर्ण योगदान 'सेल्युलोज' के पाचन में निहित है। पेड़-पौधों की मृत सूखी टहनियां और पत्तियां सेल्युलोज से बनी होती हैं, जो प्रकृति का सबसे कठिन जटिल पदार्थ है। यदि दुनिया में दीमक न होते, तो जंगल और खेत मृत लकड़ी और सूखे पत्तों के अंबार से पट जाते। दीमक के शरीर के भीतर मौजूद विशेष सूक्ष्मजीव इस जटिल पदार्थ को तोड़कर वापस मिट्टी में मिला देते हैं। यह एक जादुई रूपांतरण है - मृत लकड़ी का उपजाऊ खाद में बदल जाना। इस प्रक्रिया के माध्यम से नाइट्रोजन, फास्फोरस और पोटेशियम जैसे महत्वपूर्ण पोषक तत्व वापस मिट्टी का हिस्सा बनते हैं, जिससे नए पौधों को जीवन मिलता है। इसी कारण दीमक को प्रकृति का सबसे बड़ा 'सफाईकर्मी' और 'खाद उत्पादक' माना जाता है।

हाल के अंतरराष्ट्रीय शोधों, विशेषकर 'साइंस' पत्रिका में प्रकाशित अध्ययनों ने यह तथ्य सामने रखा है कि सूखे के समय दीमक पौधों के लिए 'जीवनरक्षक' की भूमिका निभाते हैं।

दीमक अपनी सुरंगों के माध्यम से जमीन की गहराई से नमी को ऊपर की परतों तक लाते हैं। यह नमी छोटे पौधों और वनस्पतियों को भीषण गर्मी में भी जीवित रखने में सहायक होती है। अक्सर देखा गया है कि जंगलों में दीमक की बांबियों के आसपास की वनस्पतियां अन्य स्थानों की तुलना में अधिक हरी-भरी और समृद्ध होती हैं। यह इस बात का प्रमाण है कि दीमक केवल जीव नहीं, बल्कि एक सूक्ष्म पारिस्थितिकी तंत्र का निर्माण करते हैं।

वैज्ञानिक शोध बताते हैं कि दीमक की पहली पसंद 'मृत कार्बनिक पदार्थ' होती है, जीवित फसल नहीं। जब किसान खेत से सारा कचरा, ठूंठ और पत्तियां साफ कर देता है और मिट्टी में कार्बनिक खाद (गोबर या खाद) की कमी हो जाती है, तब ही भूख से मजबूर होकर दीमक जीवित पौधों की जड़ों की ओर रुख करते हैं। यदि हम मिट्टी को पर्याप्त प्राकृतिक कचरा और मल्चिंग उपलब्ध कराएं, तो दीमक कभी दुश्मन नहीं बनेंगे, बल्कि मिट्टी को उपजाऊ बनाने वाले सबसे सस्ते और प्रभावी मजदूर साबित होंगे। वे मिट्टी के रासायनिक गुणों को सुधारते हैं और उसकी अम्लता और क्षारीयता को संतुलित करने में मदद करते हैं। शोध बताते हैं कि दीमक की बांबी के आसपास की मिट्टी में साधारण मिट्टी की तुलना में नाइट्रोजन की मात्रा 50 प्रतिशत अधिक हो सकती है।

दीमक का होना मिट्टी के जीवित होने का प्रमाण है। वे उस 'पुनर्जन्म' की प्रक्रिया के वाहक हैं, जहां अंत ही नए जीवन का आरंभ बनता है। आधुनिक कृषि में कृषि रसायनों का अत्यधिक उपयोग किया जा रहा है। इससे केवल फसल-नुकसान करने वाले दीमक ही नहीं बल्कि उनकी पूरी कॉलोनी (रानी, श्रमिक, सैनिक) खत्म हो जाते हैं। और इनकी कॉलोनी एक बार नष्ट हुई तो बांबी दोबारा नहीं बनती, क्योंकि दीमक का पुनर्वास बेहद धीमा होता है। खेती का मशीनीकरण और गहरी जुताई की वजह से भी इसी किस्म का नुकसान होता है।

वैज्ञानिक अध्ययनों के अनुसार, दीमक की कॉलोनी 10-15 साल में बनती है, लेकिन मशीनें एक दिन में उसे नष्ट कर देती है। जंगलों में भी ईंधन लकड़ी के लिए सफाई, पत्तों को जलाना, 'साफ जंगल' की वन-नीति से दीमक का भोजन खत्म हो रहा है। जंगलों में दीमकों की बांबियां खत्म होने से चींटीखोर (एंटईटर), सरीसृप और कई पक्षी प्रजातियां भी घट रही हैं। यह एक किस्म से, पूरा पारिस्थितिक पतन का संकेत है। ■

Nehru centre

नेहरू सेंटर ऑडिटोरियम

वेस्टर्न एक्सप्रेसवे पर
मुंबई के हृदयस्थल में,
बीकेसी से सटे,
एयरपोर्ट के पास

इन सबके लिए सर्वोत्तमः
- कॉरपोरेट/एचआर मीटिंग, सेमिनार या ट्रेनिंग सेशंस
- व्याख्यान
- बुक लॉन्च/ बुक रीडिंग
- पैनल डिस्कशन
- साहित्यिक/सांस्कृतिक कार्यक्रम

ऑडिटोरियम उपलब्ध है
-पूरा दिन सुबह 10 बजे से शाम 8 बजे
-आधा दिन सुबह 10 बजे से दोपहर 2 बजे या शाम 4 बजे से शाम 8 बजे

बुकिंग के लिए कृपया संपर्क करें: +91 22-26470102, 8482925258
या हमें लिखें: contact@nehrucentre.com
नेहरू सेंटर ऑडिटोरियम, दूसरा फ्लोर, एजेएल हाउस, 608/1ए, प्लॉट नं. 2, एस. नं. 341, पीएफ ऑफिस के पास, बांद्रा, मुंबई- 400051